ओ३म्

यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा

ग्रन्थकर्ता—
प्रोफेसर विश्वनाथ, विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड,
देहरादून

~~वेदोपाध्याय श्री पं० विश्वनाथजी~~
~~विद्यामार्तण्ड की~~
~~सेवामें सादर भेंट~~

आचार्य,
श्री पं० प्रियव्रतजी वेदवाचस्पति,
की सेवा में सादर भेंट

प्रताप सिंह चौधरी.

23.11.1979.

ओ३म्

यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा
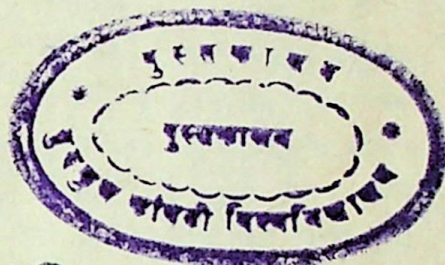
ग्रन्थकर्त्ता—
प्रोफेसर विश्वनाथ, विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड,
देहरादून
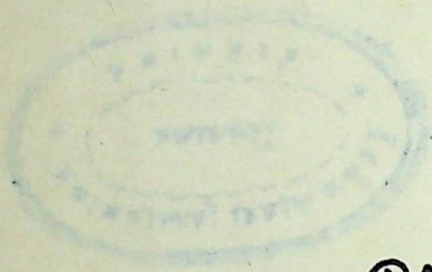
भूमिका

१. सम्पूर्ण यजुर्वेद पर महर्षि दयानन्द का भाष्य है। भाष्य में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ यत्र तत्र किये गए हैं। साथ ही आधिभौतिक आदि दैवत-पदों के अवान्तर नानाविध अर्थों पर भी विशेष प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ आधिभौतिक दृष्टि में—"अग्नि" दैवत-पद द्वारा ज्ञानाग्नि-सम्पन्न व्यक्ति, राजा, सेनानी, ब्राह्मण, अग्रणी नेता आदि का; आधिदैविक दृष्टि में—"अग्नि" दैवत-पद द्वारा आग, विद्युत्, सूर्य, द्युलोक, तथा सुवर्ण, रजत, लोहादि आग्नेय खनिज पदार्थों का; और आध्यात्मिक दृष्टि में—"अग्नि" दैवत-पद द्वारा ज्ञान, जीवात्मा तथा परमात्मा आदि का भी वर्णन मन्त्रों में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। इसलिये महर्षि का वेदभाष्य स्थान-स्थान में दुरूह भी प्रतीत होता है। परन्तु महर्षि की इस वेदार्थ-शैली के अनुसार ही वेद सब सत्य विद्याओं के मूल-स्रोत प्रतीत होने लगते हैं।

२. वर्तमान ग्रन्थ में अश्वमेधपरक मन्त्रों से अतिरिक्त मन्त्रों के अर्थ, महर्षि-प्रदर्शित अर्थों की छाया में ही किये हैं। परन्तु इन अर्थों को सुगम, स्पष्ट, तथा संक्षिप्तरूप में प्रदर्शित किया है। कहीं-कहीं अर्थों की नानाविधता भी दर्शाई है। जैसे कि—निरुक्ताचार्य यास्क ने "इति नैरुक्ताः; इति याज्ञिकाः, इति नैदानाः, इत्यात्मविदः, इत्यधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्" द्वारा मन्त्रगत अर्थों के वैविध्य को दर्शाया है।

३. महीधर आदि भाष्यकर्त्ताओं ने यजुर्वेद में वैदिक शब्दों के लोक-प्रसिद्ध अर्थों के आधार पर याज्ञिक अर्थ किये हैं, जो कि आपाततः प्रतीत होते है। यथा—रेतोधाः (मन्त्र क्रमांक १७४), उत्सक्थ्याः, गुदम् (क्रमांक १७५), गभे, पसः (क्रमांक १७६), नारी (क्रमांक १८३) इत्यादि। वर्तमान ग्रन्थ में ऐसे शब्दों के अर्थों पर विशेष प्रकाश डाला है।

४. याज्ञिक पद्धति के आधार पर यजुर्वेद के मन्त्रों के जो अर्थ किये जाते हैं, उन में पशुहिंसा और माँसाहुतियों का भी वर्णन मिलता है। इस पद्धति की अप्रामाणिकता दर्शाई गई है।

५. अश्वमेध सम्बन्धी गौण तथा मुख्य वर्णन, यजुर्वेद के अध्याय २० वें से ३० वें तक हुआ है। मुख्य वर्णन सम्पूर्ण २३ वें अध्याय में, तथा अध्याय २५ वें के २४ से ४५ मन्त्रों में, तथा अध्याय २९ वें के ९ से २४ मन्त्रों में हुआ है।

६. "राष्ट्रं वा अश्वमेधः" (शत० ब्रा० १३।१।६।३) के अनुसार अध्याय २३वें के १ से ६५ मन्त्रों की व्याख्या आधिभौतिक दृष्टि से राष्ट्रपरक की गई है। तथा इस अध्याय में महीधर ने मन्त्रों के जो अश्लील अर्थ किये हैं, उन के वास्तविक भावों को दर्शाया गया है।

७. "एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति, तस्य संवत्सर आत्मा" (बृहदा० उप० अध्या० १, ब्रा० २, खण्ड ७) के आधार पर अध्याय २५ वें तथा २६ वें के अश्वमेध सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या आदित्यपरक की गई है। इस खण्ड का अभिप्राय यह है कि यह दृश्यमान आदित्य जो तप रहा है, यह ही निश्चय से 'अश्वमेध' है; अर्थात् आदित्य है—'अश्व' और आदित्य का तपना है—'अश्वमेध'। संवत्सर काल इस की आत्मा है। क्योंकि संवत्सर काल ही आदित्य की वार्षिक आदि गतियों, तथा ऋतु-ऋतु में परिवर्तित होनेवाले आदित्य के गुणधर्मों का नियामक है। अतः संवत्सर आदित्य की आत्मा है।

अश्वमेध की यह आधिदैविक व्याख्या प्रथम प्रयत्न है। आधिदैविक व्याख्या में इसलिये वैदिक विद्वानों का मतभेद सम्भव है। परन्तु इन मन्त्रों की याज्ञिक-व्याख्या भी मतभेद से रहित नहीं है। इन मन्त्रों पर पर्याप्त विचार करना पड़ा है। कहीं-कहीं और अधिक अनुसन्धान की भी आवश्यकता प्रतीत होती है। परन्तु इन मन्त्रों का आधिदैविक देवता आदित्य ही है, इस में मुझे कोई सन्देह प्रतीत नहीं होता। जब कि महर्षि याज्ञवल्क्य, जो कि शुक्ल यजुर्वेद के अनुसन्धानकर्त्ता, तथा शतपथब्राह्मण में शुक्ल यजुर्वेद के रहस्यार्थों के प्रकाशक, और बृहदारण्यक-उपनिषद् के रचयिता है, स्वयं इस उपनिषद् में अश्वमेध को "आदित्य का तपना" कहते हैं। इस दृष्टि में अश्व है—"आदित्य", जो कि रश्मिसमूह से व्याप्त है (अशूङ् व्याप्तौ), तथा अश्वमेध है—"आदित्य का तपना"।

८. यजुर्वेद के अश्वमेधीय मन्त्रों में अश्व के स्वरूप पर निम्नलिखित रूप में प्रकाश डाला है। यथा—"उद्यन्तसमुद्रादुत वा पुरीषात्" (मन्त्र क्रमांक २४५), अर्थात् अश्व अन्तरिक्ष से, तथा पार्थिव समुद्र जल से उदित होता हुआ प्रतीत हो रहा है। (समुद्रः अन्तरिक्षनाम, निघं० १।३; तथा पुरीषम् उदकनाम, निघं०-१।१२)। तथा "हिरण्यशृङ्गोऽयोऽस्य पादाः" (मन्त्रक्रमांक २५३), अर्थात् अश्व के सींग सुवर्णमय हैं, और इस के पाद भी सुवर्णमय हैं। घोड़े के सींग नहीं होते, तो इस के सींग सुवर्णमय कैसे सम्भव हैं? मन्त्रों में सूर्य की रश्मियों को 'शृङ्ग' कहा है। यथा—"सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्" (अथर्व० ४।५।१)। तथा "तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति" (मन्त्र-

क्रमांक २५५) अर्थात् हे अश्व ! तेरे सींग विविध स्थानों में स्थित होते हैं, और अरण्यों में अन्धकार का अपहरण करते हुए विचरते हैं। ये तथा इसी प्रकार अन्य मन्त्रवर्णन स्पष्टतया दर्शाते हैं कि अश्वमेधीय मन्त्रों में चार टांगोंवाला अश्वपशु अभिप्रेत नहीं, अपितु आदित्य ही अभिप्रेत हैं।

अन्त में रायसाहिब श्री प्रतापसिंह जी चौधरी, करनाल, मेरे लिये प्रशंसा के पात्र हैं, जिन की सहायता द्वारा यह ग्रन्थ लिखा गया है। साथ ही श्री मान्य पण्डित रघुनाथ जी शास्त्री, एम० ए०, ज्योतिषाचार्य, लच्छमन चौक, देहरादून का भी मैं आभारी हूं, जिन से कि समय-समय पर ज्योतिषसम्बन्धी परामर्श मुझे मिलते रहे हैं।।

६१ कांवली रोड़ विश्वनाथ, विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड

देहरादून, ३१ जुलाई १९७८

ग्रन्थकर्ता का संक्षिप्त परिचय तथा अन्य कृतियां

प्रस्तुत 'यजुर्वेद-स्वध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा' नामक ग्रन्थ के लेखक प्रोफेसर **विश्वनाथ जी** गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध स्नातक हैं। आप उसकी '**विद्यालंकार**' उपाधि तथा '**विद्यामार्तण्ड**' मानोपाधि से सुभूषित हैं। सन् १९१४ के दीक्षान्त-समारोह में प्रथम विभाग में आप सर्वप्रथम रहे। वैदिक-साहित्य, संस्कृत-साहित्य दर्शनशास्त्र और रसायन-शास्त्र (कैमिस्ट्री), तथा सर्वयोग में प्रथम रहने के कारण आप को ४ सुवर्ण पदक और एक रजक-पदक प्राप्त हुआ। आप सन् १९१४ में ही गुरुकुल कांगड़ी महाविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त किये गये। गुरुकुल कांगड़ी महाविद्यालय में समय-समय पर आप रसायन, दर्शन तथा वेद-विषय पढ़ाते रहे, और सन् १९४२ में वहां से सेवामुक्त हुए। आपकी अन्य कृतियां इस प्रकार हैं—

१. सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य।
२. सन्ध्या रहस्य।
३. वैदिक पशुयज्ञ-मीमांसा।
४. वैदिक जीवन।
५. वैदिक गृहस्थाश्रम।
६. बाल सत्यार्थप्रकाश।
७. बाल ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका।
८. अथर्ववेद परिचय।
९. अथर्ववेद भाष्य (काण्ड २०)
१०. अथर्ववेद भाष्य (काण्ड १८,१९)

ये सब ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु इनमें से कुछ ग्रन्थ पुनर्मुद्रण के अभाव में अप्राप्य हैं।

—:o:—

विषय-सूची

खण्ड १

(वेद-महिमा, वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन)

खण्ड २

(राजनैतिक)

खण्ड ३

(पशुयज्ञों पर सामान्य दृष्टि)

खण्ड ४

(अश्वमेध)

खण्ड ५

(आध्यात्मिक)

—:o:—

ओ३म्

यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा

प्रथम खण्ड

(वेदमहिमा, वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन)

१. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽ ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांᳪसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥३१।७॥

(सर्वहुतः) जिस के लिये उपासक सर्वस्व समर्पित करते, (तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय परमेश्वर से (ऋचः) ऋग्वेद, (सामानि) और सामवेद (जज्ञिरे) उत्पन्न होते हैं ; (तस्मात्) उस परमेश्वर से (छन्दांसि) अथर्ववेद (जज्ञिरे) उत्पन्न होता है, और (तस्मात्) उस परमेश्वर से (यजुः) यजुर्वेद (अजायत) उत्पन्न होता है।

['ऋचः, सामानि, छन्दांसि' में बहुवचन तत्तद्वेदगत मन्त्रों के बाहुल्य की दृष्टि से है। "छन्दांसि" द्वारा अथर्ववेद अभिप्रेत है। छन्दांसि छादनात् (निरु० ७।६।१२)। अथर्ववेद के मन्त्र लौकिक और आध्यात्मिक नाना विषयों का आच्छादन करते हैं, अतः इन्हें 'छन्दांसि' कहा है। वेद यतः परमेश्वर द्वारा प्रदत्त हैं, और मनुष्यों की समुन्नति के लिये हैं, इस लिये वेदों का पठन-पाठन और स्वाध्याय प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है।]

२. पाहि नोऽ अग्नऽ एकया पाह्युत द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जांपते पाहि चतसृभिर्वसो ॥२७।४३॥

(अग्ने) हे ज्ञानसम्पन्न जगदग्रणी परमेश्वर ! (एकया) एक वेदवाणी द्वारा (नः) हमारी (पाहि) रक्षा कीजिये, (उत) और (द्वितीयया) दूसरी

वेदवाणी द्वारा (पाहि) रक्षा कीजिये। (उर्जां पते) हे बलों और प्राणों के स्वामिन्! (तिसृभिः गीर्भिः) तीन वेदवाणियों द्वारा (पाहि) रक्षा कीजिये, (वसो) हे वसानेवाले तथा सर्ववासी परमेश्वर! (चतसृभिः) चारों वेद-वाणियों द्वारा (पाहि) रक्षा कीजिये।

[चार वेदवाणियों में से किसी भी एक वेदवाणी का श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय और तदनुकूल आचरण करने से परमेश्वर रक्षा करता है। ऋग्वेद-वाणी का विषय है ज्ञान, यजुर्वेदवाणी का विषय है कर्म, सामवेदवाणी का विषय है उपासना, और अथर्ववेदवाणी का विषय है विज्ञान, अर्थात् जगत् के लौकिक और परमार्थ विषयों का यथार्थ ज्ञान।]

३. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाँ सत्ये प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानँ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥१९।७७॥

(प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक परमेश्वर, (दृष्ट्वा) ज्ञानदृष्टि से देखकर, (सत्यानृते रूपे) सत्य और अनृत के स्वरूपों का (व्याकरोति) विशेष प्रकार से उपदेश करता है। (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक परमेश्वर (अनृते) अनृत अर्थात् असत्य में (अश्रद्धाम्) अश्रद्धा अर्थात् अप्रीति को, तथा (सत्ये) सत्य में (श्रद्धाम्) प्रीति को (अदधात्) धारण कराता है। (ऋतेन) वेद के यथार्थ विज्ञान द्वारा प्रजापति, श्रद्धालु में (सत्यम्) सत्य-ज्ञान, (इन्द्रियम्) आत्मिक बल, (विपानम्) विशेष रक्षा, तथा (अन्धसः) अन्न से उत्पन्न (शुक्रम्) तेजस्वी-वीर्य को (अदधात्) स्थापित करता है। (इदम्) यह यथार्थ विज्ञान (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (इन्द्रियम्) आत्मिक-धन, (मधु पयः) मधुर दुग्धरूप, तथा (अमृतम्) अमृतरूप है।

[श्रद्धाम्=श्रत् सत्यम् (निघं० ३।१०)+धा=धारण करने की प्रवृत्ति अर्थात् प्रीति। शुक्रम्=प्राणिबीजम्, वीर्यम् (उणा० २।२९)। अन्धस्=अन्नम् (निघं०२।७)। इन्द्रः=जीवात्मा (अष्टा० ५।२।९३)। इन्द्रियम्=आत्मिक बल, तथा धन (निघं० २।१०)।]

४. वेदेन रूपे व्यपिबत्सुतासुतौ प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानँ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥१९।७८॥

(प्रजापतिः) निज सन्तानों का पालन करनेवाला सद्गृहस्थी, (वेदेन) चारों वेदों से (सुतासुतौ रूपे) कर्तव्यरूप में प्रेरित अर्थात् विहित, और अकर्तव्यरूप में अप्रेरित अर्थात् निषिद्ध, धर्म और अधर्म का (व्यपिबत्) पान करे, ग्रहण करे। (ऋतेन···) पूर्ववत्।

[पूर्व मन्त्र से "अदधात्" का अन्वय इस मन्त्र में होता है। अर्थात् सद्गृहस्थी प्रजापति, वेदों के यथार्थ विज्ञान द्वारा, सत्यज्ञान आदि को निज जीवन में धारण करे(महर्षि दयानन्द के भाष्य के आधार पर)।]

५. प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रोऽ अर्यमा देवाऽ ओकांᳩसि चक्रिरे॥
३४।५७॥

(नूनम्) निश्चय से (ब्रह्मणस्पतिः) वेदविद्या का रक्षक जगदीश्वर, (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय पदार्थों में श्रेष्ठ (मन्त्रम्) वेदरूप मन्त्रभाग का (प्रवदति) प्रवचन करता है, (यस्मिन्) जिस जगदीश्वर में कि (इन्द्रः) बिजुली वा सूर्य, (वरुणः) जल वा चन्द्रमा, (मित्रः) प्राण वा अन्य अपानादि वायु, (अर्यमा) सूत्रात्मा वायु (देवाः) ये सब उत्तम गुणों-वाले पदार्थ (ओकांसि) निवासों को (चक्रिरे) किये हुए हैं।

[अथवा जिन मन्त्रसंहिताओं में इन्द्र आदि पदार्थों का वर्णन है, उनका जगदीश्वर ने प्रवचन किया है।]

६. चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽ अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽ अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ२ऽ आविवेश॥
१७।९१॥

(वृषभ) सुखों का बर्सानेवाला वेदशास्त्र (रोरवीति) मानो गर्ज रहा है। वह (महः) महान् (देवः) कर्तव्याकर्तव्य का प्रकाशक वेदशास्त्र, (मर्त्यान्) मरणधर्मा मनुष्यों में (आ विशेष) आ प्रविष्ट हुआ है। (अस्य) इस वेदशास्त्र के (चत्वारि) चार अर्थात् ऋक्, यजुः, साम और अथर्व (शृङ्गा) सींग अर्थात् अविद्या के विनाशक हैं, (त्रयः) तीन अर्थात् "अ, उ, म्" (पादाः) पाद हैं, प्रतिपादद्य विषय हैं, (द्वे) दो अर्थात् लौकिक और पारलौकिक (शीर्षे) मुख्य शीर्षक हैं, (अस्य) इस वेदशास्त्र के (सप्त) सात गायत्री आदि छन्द (हस्तासः) हाथ वा पापवृत्र का हनन करनेवाले

हैं। वेदशास्त्र (त्रिधा) तीन प्रकार से अर्थात् गद्य पद्य और गीतिमयी रचनाओं द्वारा (बद्धः) बन्धा हुआ है।

[वृषभः=वृषभ का अर्थ बैल भी होता है। मन्त्र पहेलीरूप है। अभिप्राय वेदशास्त्र से है। हस्तः हन्तेः (निरु० १।३।६)। शृङ्गा=शृङ्गाणि। शृङ्गं शृणातेर्वा (निरु० २।२।८)। पहेली को संस्कृत में प्रहेलि, प्रहेलिका तथा प्रह्वलिका कहते हैं।]

७. इमँ स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियँ सदनमा विशस्व॥१७।८७॥

(अग्ने) हे ज्ञान-ज्योतिःसम्पन्न मनुष्य! (सरिरस्य) सरणशील अर्थात् चलायमान संसार के (मध्ये) मध्य में रहता हुआ तू (ऊर्जस्वन्तम्) बलप्रद और प्राणप्रद (अपां प्रपीनम्) जलों से प्रवृद्ध समुद्र के सदृश ज्ञान-दुग्ध से प्रवृद्ध (इमं स्तनम्) जगन्माता के इस वेदरूपी स्तन का (धय) पान किया कर। (अर्वन्) हे अश्व के समान शक्तिशालिन् तू! (मधुमन्तम्) मधुर सदुपदेशों के (उत्सम्) स्रोतरूप परमेश्वर का (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवन किया कर। और इस निमित्त (समुद्रियम्) हृदय-समुद्र के (सदनम्) स्थानविशेष में (आ विशस्व) प्रवेश पाया कर, अथवा समुद्ररूपी परमेश्वरीय गृह में प्रवेश पाया कर।

[ऊर्जस्=ऊर्ज बलप्राणनयोः। उत्सम्=A spring, fountain (आपटे)। सदनम्="अस्मिन् ब्रह्मपुरे (हृदये) दहरं पुण्डरीकं वेश्म (सदनम्) तत्र विज्ञानम्" (योग ३।३४) व्यासभाष्य। समुद्रियम्=समुद्र (हृदय), यथा "एताऽअर्षन्ति हृद्यात्समुद्रात्" (यजु० १७।९३)। अथवा समुद्र=परमेश्वर, यथा "समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः" (यजु० ५।३३), अर्थात् हे परमेश्वर! आप महासमुद्र हैं, और विश्व में व्यापक हैं।]

८. महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति॥२०।८६॥

(सरस्वती) विज्ञानमयी वेदवाणी, (केतुना) सम्यक्-ज्ञान के प्रदान द्वारा, (महः अर्णः) ज्ञान के महासमुद्र को (प्रचेतयति) उत्तम प्रकार से जतलाती है, और (विश्वाः) सब प्रकार की (धियः) बुद्धियों और कर्मों को (विराजति) नाना प्रकार से प्रकाशित करती है।

[वेद सम्यक्-ज्ञान का महासमुद्र है। वेद द्वारा सम्यक् बुद्धि तथा कर्तव्यकर्मों के ज्ञान के लिए वेदों का स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिये। अर्णः=समुद्र (महर्षि दयानन्द)। सरस्=विज्ञानम् (उणा० ४।१९०)। केतुना=प्रज्ञया (निरु० ११।३।२६)। धियः=धी कर्मनाम (निघं० २।१); प्रज्ञानाम (निघं० ३।६)। सरस्वती=सरो विज्ञानं विदचतेऽस्यां सा सरस्वती वाक् (उणा० ४।१९०) महर्षि दयानन्द ; तथा सरस्वती वाङ्नाम निघ० १।११)।]

९. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्याᳪं शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ॥२६।२॥

मैं ईश्वर (यथा) जैसे (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए, (अर्याय) वैश्य के लिए, (च) और (शूद्राय) शूद्र के लिए, (च) और (स्वाय) अपने भक्त के लिए, (च) तथा (अरणाय) मुझ में जो रमण नहीं करता, अथवा जो उत्तम लक्षणों को प्राप्त है उसके लिए, (जनेभ्यः) इन उक्त सब मनुष्यों के लिए (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण करनेवाली (वाचम्) चार वेदरूप वाणी का (आ वदानि) सर्वत्र उपदेश करता हूँ, [वैसे हे मनुष्य!] तू भी इसका अच्छे प्रकार सर्वत्र उपदेश किया कर। और चाहा कर कि मैं (इह) इस जीवन में (देवानाम्) विद्वानों का (प्रियः) प्यारा (भूयासम्) हो जाऊँ, और (दक्षिणायै) कल्याणी वेदवाणीरूप दक्षिणा के (दातुः) प्रदान करनेवाले परमेश्वर का भी प्यारा हो जाऊँ। और (मे) मेरी (कामः) यह कामना (समृध्यताम्) उत्तमता से बढ़े, समृद्धि प्राप्त करे, तथा (अदः) वह मोक्षसुख (मा) मुझे (उप नमतु) प्राप्त हो।

[अर्याय=अर्यः स्वामिवैश्ययोः (अष्टा० ३।१।१०३)। अरणाय= अरमणाय, अथवा "ऋ" गतौ, गतेश्च त्रयोऽर्थाः-ज्ञान गतिः प्राप्तिश्च। "अरणाय" पद में 'ऋ'का अर्थ "प्राप्ति' है,अर्थात् उत्तम लक्षणों को प्राप्त; ऋ (प्राप्ति)+अन (ल्युट् कर्तरि)।] —:०:—

१०. परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज ।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ२ऽ अनु ॥४।२८॥

(अग्ने) हे सुमार्ग पर आगे ले जानेवाले जगदीश्वर! आप कृपा करके (मा) मुझे (दुश्चरितात्) दुष्टाचरण से (परि बाधस्व) पूर्णतया पृथक् कीजिये; (मा) मुझे (सुचरिते) उत्तम-उत्तम धर्माचरणयुक्त व्यवहार में (आ भज) पूर्णतया स्थापित कीजिये। मैं (अमृतान् अनु) जीवन्मुक्त और मोक्ष को प्राप्त हुए विद्वानों के (अनु) जीवनों के अनुसार (आयुषा) आयु से (उद् अस्थाम्) ऊंचे उठूं, (स्वायुषा) उत्तम-आयु से (उद् अस्थाम्) ऊंचे उठूं।

[अग्ने = **अग्निः अग्रणीर्भवति** (निरु० ७।४।१४), अर्थात् आगे ले जानेवाला। मन्त्र में दुराचार से हटकर सदाचार में प्रवृत्त होने की प्रार्थना है। और अमृत हुए महात्माओं के जीवनों के अनुसार चलकर दीर्घायु और उत्कृष्टायु प्राप्त करने का संकल्प किया है। महर्षि दयानन्द भावार्थ में कहते हैं कि—"मनुष्यों को योग्य है कि अधर्म के छोड़ने और धर्म के ग्रहण करने के लिये, सत्यप्रेम से प्रार्थना करें। प्रार्थना किया हुआ परमात्मा शीघ्र अधर्मों से छुड़ाकर धर्म ही में प्रवृत्त कर देता है। परन्तु सब मनुष्यों को यह करना अवश्य है कि जब तक जीवन है, तब तक धर्माचरण ही में रह कर, संसार वा मोक्षरूपी सुखों को सब प्रकार से सेवन करें"।]

११. प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥४।२९॥

(स्वस्तिगाम्) कल्याण प्राप्त करानेवाले, (अनेहसम्) शरीर मन और आत्मा का हनन न करनेवाले (पन्थाम्) मार्ग को (प्रति अपद्महि) हम प्रत्यक्षरूप में प्राप्त करें, (येन) जिस मार्ग से विद्वान् मनुष्य (विश्वाः) सब (द्विषः) द्वेषों को (परि वृणक्ति) सब प्रकार से छोड़ देता है, और (वसु) श्रेष्ठधनों अर्थात् सद्गुणों को (विन्दते) प्राप्त होता है।

[स्वस्तिगाम् = सु (श्रेष्ठ) + अस्ति (वर्तन, वर्ताव) + गाङ् गतौ (प्राप्ति)। अनेहसम्—अन् + हन् (उणा० ४।२२५)। मनुष्यों को उचित है कि द्वेष आदि का त्याग, विद्यादि धन की प्राप्ति, और धर्ममार्ग के प्रकाश के लिये ईश्वर की प्रार्थना निरन्तर करें। प्रेम तथा सर्वभूतमैत्री का मार्ग इस निमित्त अवलम्ब करना चाहिये।]

१२. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥३।२४॥

(अग्ने) हे जगदीश्वर ! (सूनवे) पुत्र के लिये (पिता इव) जैसे पिता (सूपायनः) अच्छे-अच्छे गुणों को सिखाता है, वैसे आप (नः) हमारे लिये (सूपायनः) श्रेष्ठ ज्ञान के देनेवाले (भव) हैं, या हूजिये। (सः) वह आप (नः) हम लोगों को (स्वस्तये) कल्याणकारी सुख के लिये (सचस्व) संयुक्त कीजिये।

[उपायनः=भेंट देनेवाला, सद्गुणों तथा श्रेष्ठ ज्ञान की। उपायनम् =*A present, gift* (आपटे)।]

१३. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥१।५॥

(व्रतपते) हे सत्यभाषण आदि व्रतों अर्थात् सत्कर्मों के पति !, तथा (अग्ने) सत्य आदि का प्रकाश करनेवाले परमेश्वर ! मैं (व्रतम्) सत्य बोलने, सत्य मानने, और सत्य करने के व्रत का (चरिष्यामि) आचरण अर्थात् अनुष्ठान् करूंगा। आपकी कृपा से (तत्) उस व्रत के करने को (शकेयम्) मैं समर्थ होऊँ। (तत्) उस (मे) मेरे व्रत को (राध्यताम्) आप सिद्ध कीजिये, सफल कीजिये। (अहम्) मैं (अनृतात्) असत्य से अलग होकर, (इदं सत्यम्) इस सत्यव्रत को (उपैमि) जाप्त करता हूं।

[**व्रतम्=कर्मनाम** (निघं० २।१)]

१४. अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽ अहम् ॥२०।२४॥

(व्रतपते) हे सत्यभाषणादि व्रतों अर्थात् सत्कर्मों के पति !, तथा (अग्ने) सत्य आदि का प्रकाश करनेवाले जगदीश्वर ! (अहम्) मैं (समिधम्) अग्नि में समिधा के समान (त्वयि) तुझ में ध्यानरूपी समिधा (अभ्यादधामि) स्थापित करता हूँ, और (व्रतम्) सत्यभाषण आदि व्यवहार को, (च) तथा (श्रद्धाम्) सत्यधारण करने के नियम को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ। (दीक्षितः) ब्रह्मचर्यादि की दीक्षा को प्राप्त होकर (त्वा) तुझे (इन्धे) निज आत्मा में प्रकाशित करता हूँ।

[सत्यभाषण आदि व्रतों और श्रद्धा को प्राप्त करके परमेश्वर का ध्यान द्वारा साक्षात्कार करना चाहिये।]

१५. व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः । दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नो असद्वशे । ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा ॥४।११॥

(व्रतं कृणुत) व्रत धारण करो कि (ब्रह्म) परमेश्वर (अग्निः)[1] सर्वाग्रणी है। (यज्ञः) यज्ञकर्म (अग्निः)[1] हमें आगे ले जाते हैं, तथा (वनस्पतिः) वनस्पतियां (यज्ञियः) यज्ञों के लिये योग्य हैं [न कि मांस आदि]। तथा व्रत धारण करो कि (अभिष्टये) अभीष्टों की सिद्धि के लिये (दैवीम्) दिव्यगुणों से सम्पन्न, (सुमृडीकाम्) उत्तम सुखदायक, (वर्चोधाम्) विद्या वा दीप्ति धारण करानेवाली, (यज्ञवाहसम्) यज्ञों को सफलता प्राप्त करानेवाली (धियम्) बुद्धि का (मनामहे) सदा हम मनन करते हैं। ताकि वह बुद्धि (नः) हमारे (वशे) वशीभूत होकर (सुतीर्था) हमें सुगमता से दुःखों से तैरानेवाली (असत्) हो। तथा (ये) जो (देवाः) दिव्य विचार (मनोजाताः) मनों में पैदा होते, (मनोयुजः) मनों को योगयुक्त करते, (दक्षक्रतवः) आत्मिकबल प्राप्त कराते, तथा प्रज्ञा प्रदान करते हैं, (ते) वे (नः) हमें (अवन्तु) प्राप्त हों, (ते) वे (नः) हमारी (पान्तु) रक्षा करें। (तेभ्यः) उन दिव्य विचारों की प्राप्ति के निमित्त (स्वाहा) हम सर्वस्व समर्पण करें।

१६. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥६।४॥

हे व्रतधारण करनेवालो ! तुम (विष्णोः) सर्वव्यापक परमेश्वर के (कर्माणि) कर्मों को (पश्यत) देखो, जानो, (यतः) जिन कर्मों को देखकर, जानकर (व्रतानि) निज व्रतों का (पस्पशे) मैंने ग्रहण किया है, और

---

१. **अग्निः अग्रणीर्भवति** (निरु० ७।४।१४), तथा "**अग्ने नय सुपथा**" (यजुः ४०।१६) में अग्नि को नयनकर्त्ता कहा है, नयनकर्त्ता का अर्थ है—"ले जानेवाला"। अतः अग्निः=आगे ले जानेवाला, उन्नतिपथ पर ले जानेवाला है। अग्निः=अग् (अग्रे)+नी (नयनकर्त्ता)। "अग्नि" में "नि" नयनार्थक है, इसे मन्त्र में "नय" द्वारा जतलाया है (यजुः ४०।१६)।

(युज्यः) सदाचारयुक्त हो कर मैं, (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर का (सखा) समान ख्यातिवाला, उस के कर्मों के सदृश कर्मोंवाला हुआ हूं।

[परमेश्वर व्रती है, व्रतपति है (मन्त्र-क्रमांक १३), महाव्रती है। उस के कर्म सुदृढ़ नियमों में परिबद्ध है। संसार की रचना, पालना और उस का संहार, सूर्य का नियम से उदय और अस्त होना, ऋतुओं का नियमपूर्वक परिवर्तन, न्यायपूर्वक कर्मानुरूप फल देना, परोपकार आदि परमेश्वरीय कर्म सुदृढ़ नियमों में बन्धे हुए हैं। इन्हें देखकर व्रती को भी अपने व्रतों=कर्मों को सुदृढ़ नियमों में बान्ध कर, और सदाचारयुक्त हो कर, परमेश्वर का सखा बनना चाहिये=समान ख्यातिवाला होना चाहिये। पस्पशे = स्पश बाधनस्पर्शनयोः (भ्वादि), स्पर्शनम्=ग्रन्थनम्। तथा स्पश ग्रहणसंश्लेषणयोः (चुरादि), ग्रहणम् = ग्रहण करना, जानना। सखा ="समानख्यानः" (निरु० १३।१।१२) । परमेश्वर और जीवात्मा परस्पर सखा है। यथा " द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (श्वेता. उप. ४। ६)। मन्त्र में उपदेष्टा सब व्रतियों को उपदेश देता है।]

१७. यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः ॥२०।१४॥

(वयम् देवाः) हम विद्वान्, तथा हम से भिन्न (देवासः) अन्य विद्वान् लोग, परस्पर (यत्) जो (देवहेडनम्) विद्वानों का अनादर (चकृम) करें, (तस्मात्) उस (एनसः) अपराध से, और (विश्वात्) अन्य सब (अंहसः) दुष्ट व्यसनों से (अग्निः) अग्निसमान तेजस्वी विद्वान् (मा) मुझे और प्रत्येक को (मुञ्चन्तु) पृथक् करे।

[एक कोटि के तथा दूसरी कोटि के विद्वान्, परस्पर एक-दूसरे का अनादर न करें। जैसे अग्नि मल को भस्मीभूत कर देती है, वैसे अग्नि-समान तेजस्वी विद्वान् हम विद्वानों में से प्रत्येक के अपराध को, तथा अन्य दुष्टव्यसनों को, सदुपदेशों द्वारा पृथक् कर दें, ताकि हम पुनः ऐसा अपराध और व्यसन न करें।]

१८. यदि दिवा यदि नक्तमेनाꣳसि चकृमा वयम्।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः ॥२०।१५॥

(यदि) अगर (दिवा) दिन में, (यदि) अगर (नक्तम्) रात्रि

में, (वयम्) हम (एनांसि) अपराधों को (चकृम) करें, (तस्मात्) उस (एनसः) अपराध से, और (विश्वात्) अन्य समग्र (अंहसः)दुष्ट-व्यसनों से, (वायुः) वायुसमान शोधक विद्वान्,(मा)मुझे और प्रत्येक को (मुञ्चतु)पृथक् करे।

[वायुः=वायु निज संचार द्वारा सब को पवित्र करती है। प्रत्येक के शरीर में संचार कर शारीरिक मलों को भी पृथक् करती है। इसी प्रकार महात्मा लोग सदुपदेशों द्वारा हमारे दुष्टव्यसनों और अपराधों को दूर कर हम में से प्रत्येक को शुद्ध पवित्र करें।]

१९. यदि जाग्रत् यदि स्वप्नऽ एनांᳬसि चकृमा वयम् ।
सूर्यों मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वᳬहसः ॥२०।१६॥

(यदि) अगर (जाग्रत्) जाग्रत् अवस्था में, (यदि) अगर (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में (एनांसि) अपराधों को (वयम्) हम (चकृम) करें, तो (सूर्यः) सूर्य के समान ज्ञानप्रकाश देनेवाला विद्वान् (मा) मुझे और प्रत्येक को (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से, तथा (विश्वात्) समग्र (अंहसः) प्रमाद आदि से (मुञ्चतु) पृथक् करे।

[जाग्रत् अवस्था में जानते हुए पाप किये जाते हैं,। और स्वप्नावस्था में कुसंस्कारों के कारण पापकर्मों के स्वप्न होते हैं। सूर्य जैसे प्रकाश द्वारा अन्धकार को पृथक् करता है, वैसे सूर्यसम प्रतापी आदित्य ब्रह्मचारी कोटि का विद्वान् मुझे और प्रत्येक को यथार्थ ज्ञान दे कर, जाग्रत् अवस्था के पापों से तथा उन पापों के कुसंस्कारों से पृथक् रखे।]

२०. यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि ॥२०।१७॥

हे विद्वन् ! (वयम्) हम लोग (यत्) जो (ग्रामे) गांव में,(यत्) जो (अरण्ये) जंगल में, (यत्) जो (सभायाम्) सभा में, (यत्) जो (इन्द्रिये) मन में, (यत्) जो (शूद्रे) शूद्र में, (यत्) जो (अर्ये) स्वामी वा वैश्य में, (यत्) जो (एकस्य) एक के या किसी के

(धर्मणि अधि) धर्म[1] में, तथा (यत्) जो और भी (एनः) अपराध (चकृम) करते हैं, (तस्य) उस सब के (अवयजम्) छुड़ानेवाले आप (असि) हैं।

२१. द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः ॥२०।२०॥

(द्रुपदात् इव) वृक्ष के भिन्न-भिन्न स्थान से जैसे फल, रस, पुष्प, पत्ता आदि पककर अलग हो जाते हैं, वा (इव) जैसे (स्विन्नः) स्वेदयुक्त मनुष्य (स्नातः) स्नान करके (मलात्) मल से छूट जाता है, वा (इव) जैसे (आज्यम्) घृत (पवित्रेण) पवित्र करनेवाले छानने के साधन द्वारा (पूतम्) पवित्र अर्थात् शुद्ध हो जाता है, वैसे (आपः) जलों के समान निर्मल आप्त विद्वान् (मा) मुझे और प्रत्येक को (एनसः) अपराध से पृथक् करके (शुन्धन्तु) शुद्ध करें।

[द्रुपद=द्रु=वृक्ष+पद=उस के भिन्न-भिन्न स्थान=शाखा आदि (महर्षि दयानन्द)।]

२२. पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः ।
पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः
पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥
१९।३७॥

(सोम्यासः) सौम्यस्वभाववाले चन्द्रमा के तुल्य शान्त (पितरः) पालक माता-पिता आदि (मा) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें, (पितामहाः) पिताओं के पिता (मा) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें। (प्रपितामहाः) पितामहों के पिता (पुनन्तु) मुझे पवित्र करें, ताकि (पवित्रेण) पवित्र (शतायुषा) सौ वर्षों की आयु से मैं संयुक्त होऊँ। (पितामहाः) पिताओं के पिता (मा) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें, (प्रपितामहाः) पिताओं के पिता (पुनन्तु) मुझे पवित्र करें, ताकि (पवित्रेण) पवित्र (शतायुषा) सौ वर्षों की आयु से संयुक्त हुआ मैं (विश्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (व्यश्नवै) प्राप्त होऊँ।

[सन्तानों में स्वयं इच्छा होनी चाहिये कि उनका जीवन पवित्र हो, और

---

१. धर्म=वर्णाश्रमधर्म, नकि साम्प्रदायिक धर्म।

पवित्र जीवन के साथ वे सौ वर्षों की पवित्र आयु को प्राप्त हों। गृहस्थ में माता-पिता तथा अन्य वृद्धों को भी चाहिये कि अपने पवित्र जीवनों द्वारा वे सन्तानों के लिये आदर्शरूप बनें, और निज सदुपदेशों द्वारा सन्तानों को पवित्र करते रहें। मन्त्र में पिताओं, पितामहों, और प्रपितामहों का वर्णन हैं। १०० वर्षों की औसतन आयु में इन्हीं तीन का जीवित रहना अधिक सम्भावित है। प्रपितामहों के पिताओं का जीवित रह सकना अधिक सम्भावित नहीं है। पितामहों तथा प्रपितामहों का दो वार कथन करने का यह अभिप्राय है कि ये बच्चों के सदाचार के निर्माण में अधिक सहयोग दे सकते हैं, क्योंकि ये अन्य गृह्यकृत्यों से उपरत हो चुके होते हैं।]

२३. अग्न॒ऽ आयू॑ᳫँषि पवस॒ऽ आ सु॒वोर्ज॒मिषं॑ च नः।
आ॒रे बा॑धस्व दु॒च्छुना॑म्॥१९।३८॥

(अग्ने) हे ज्ञानाग्नि सम्पन्न पिता, पितामह, प्रपितामह! आप में से प्रत्येक (नः) हमारी (आयूंषि) आयुओं को (पवसे) पवित्र करे, च और (ऊर्जम्) बलों, प्राणशक्तियों को, तथा (इषम्) हमारे अभीष्टों को (नः आ सुव) हमें प्राप्त कराए। तथा (दुच्छुनाम्) दुष्ट-कुत्तों के समान मनुष्यों के सग को (आरे) हम से दूर (बाधस्व) करे।

[मन्त्र क्रमांक २२ में वर्णित पिता, पितामह, तथा प्रपितामह का सम्बन्ध इस मन्त्र में, महर्षि दयानन्द ने किया है।]

२४. पु॒नन्तु॑ मा देवज॒नाः पु॒नन्तु॒ मन॑सा॒ धियः॑।
पु॒नन्तु॒ विश्वा॑ भू॒तानि॒ जात॑वेदः पुनी॒हि मा॑॥१९।३९॥

(देवजनाः) देवकोटि के सज्जन (मा) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें; (मनसा) मन की पवित्रता द्वारा या विज्ञान देकर (धियः) हमारी बुद्धियों और कर्मों को (पुनन्तु) पवित्र करें। (विश्वा भूतानि) पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश, ये सब पञ्चभूत मेरे भौतिक शरीर को (पुनन्तु) पवित्र करें। और (जातवेदः) हे उत्पन्न जगत् में विद्यमान परमेश्वर! आप (मा) मुझे (पुनीहि) पवित्र कीजिये।

२५. पव॑मान॒ः सोऽ अ॒द्य नः॑ प॒वित्रे॑ण॒ विच॑र्षणिः।
यः पोता॒ स पु॑नातु मा॥१९।४२॥

(सः) वह (विचर्षणिः) सर्वद्रष्टा जगदीश्वर, (अद्य) आज से ही, (पवित्रेण) पवित्र वेदविज्ञान द्वारा (नः) हमें (पवमानः) पवित्र करनेवाला हो। (यः) जो जगदीश्वर (पोता) पवित्रस्वरूप है, (सः) वह (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे।

[विचर्षणिः=पश्यतिकर्मा (निघं० ३।११)। पवित्रेण=इस पद द्वारा १९।४१ में पठित ब्रह्म' अर्थात् वेद जानना चाहिये। यथा "यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा"। अर्थात् हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! आप की ज्ञानार्चि में जो विस्तृत पवित्र ब्रह्म अर्थात् वेदज्ञान है, उस के द्वारा आप मुझे पवित्र करें (महर्षि दयानन्द के अनुसार)। पोता= पूञ् पवने।]

२६. उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।
मा पुनीहि विश्वतः ॥१९।४३॥

(देव) हे सुख देनेवाले (सवितः) सत्यकर्मों में प्रेरक जगदीश्वर ! (उभाभ्याम) दोनों द्वारा अर्थात् (पवित्रेण) पवित्र वेदविज्ञान द्वारा (च) और (सवेन) अन्तरात्मा में प्रेरणा द्वारा, (विश्वतः) सब ओर से (मा) मुझे (पुनीहि) पवित्र कीजिये।

[देवः=दानात् (निरु० ७।४।१५)।]

२७. भद्रो नोऽ अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रोऽ अध्वरः।
भद्राऽ उत प्रशस्तयः ॥१५।३८॥

(सुभग) हे शोभन धर्म-यश-ज्ञान और वैराग्यसम्पन्न महात्मन् ! आप के सदुपदेशों द्वारा (नः) हमारा (आहुतः अग्निः) अग्निहोत्र (भद्रः) सुखदायो और कल्याणकारी हो। (रातिः) दिया दान (भद्रा) सुखदायी और कल्याणकारी हो। (अध्वरः) अहिंसामय उपासनायज्ञ (भद्रः) सुखदायी और कल्याणकारी हो। (उत) तथा (प्रशस्तयः) परमेश्वर-सम्बन्धी गुणगान (भद्राः) सुखदायी और कल्याणकारी हों।

२८. भद्राऽ उत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये।
येना समत्सु सासहः ॥१५।३९॥

महात्मा सदिच्छा करता है कि हे उन्नति चाहनेवाले ! (प्रशस्तयः)

परमेश्वरसम्बन्धी गुणगान (भद्राः) तेरे लिये सुखदायी और कल्याण-कारी हों, (उत) और तू (वृत्रतूर्ये) काम-क्रोधादि वृत्रों के विनाश के लिये (मनः) अपने मन को (भद्रम्) सुखदायी और कल्याणकारी मार्ग में (कृणुष्व) लगा। (येन) जिस से कि (समत्सु) देवासुर-संग्रामों में (सासहः) तू वृत्रासुरों का पराभव कर सके, या साहससम्पन्न हो सके।

[वृत्र= आवरण डालनेवाले काम-क्रोध आदि। तूर्य=तुरी गतित्वरण-हिंसनयोः। समत्सु=संग्रामनाम (निघं० २।१७)।]

२९. देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्त्तताम्।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥
२५।१५॥

(ऋजूयताम्) सत्यमार्ग चाहनेवाले (देवानाम्) विद्वानों की (भद्रा) सुखदायी और कल्याण करनेवाली (सुमतिः) श्रेष्ठमति, तथा (देवानाम्) उन विद्वानों का (रातिः) सदुपदेशों और विद्या का दान (नः) हमें (अभिनिवर्त्तताम्) सब ओर से प्राप्त होता रहे। (देवानाम्) विद्वानों को (सख्यम्) मित्रता को (वयम्) हम (उप सेदिम) अच्छे प्रकार पावें। (देवाः) विद्वान् लोग (जीवसे) जीने के लिये (नः) हमारी (आयुः) आयु को (प्रतिरन्तु) बढ़ाएँ।

[ऋजूयताम्=ऋजु (सत्य), यथा "तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयः" (अथर्व० ८।४।१२)।]

३०. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥२५।२१॥

(यजत्राः) हे सत्संग के योग्य (देवाः) विद्वानो ! आप लोगों से हम (कर्णेभिः) कानों द्वारा (भद्रम्) कल्याणकारी तथा सुखकारी वचनों को (शृणुयाम) सुनें, और (अक्षभिः) आंखों द्वारा (भद्रम्) कल्याण-कारी दृश्यों को (पश्येम) देखें। (स्थिरैः) सुदृढ़ (अङ्गैः) अङ्गों से युक्त (तनूभिः) शरीरोंवाले हम, (तुष्टुवांसः) परमेश्वर की स्तुतियां करते हुए, (यत् देवहितम्) जो विद्वानों का हित करनेवाला (आयुः) जीवन है, उसे (व्यशेमहि) हम प्राप्त हों।

[स्थिरैः=दीर्घकाल तक उपासना के लिये,दीर्घकाल तक एकासन की

अवस्था में स्थिररूप से बैठने के लिये, अङ्गों में दृढ़ता चाहिये । अथवा "स्थिरैः" पद शारीरिक स्वास्थ्य का सूचक है ।]

३१. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ३४।१॥

हे जगदीश्वर ! (यत्) जो (मनः) मन (जाग्रतः) जागते हुए का (दूरम्) दूर-दूर तक (उदैति) भागता है, (दैवम्) जो आत्मा के अधीन वा जीवात्मा का साधन है, (उ) और (तत्) वह मन (सुप्तस्य) सोते हुए का (तथा एव) उसी प्रकार (एति) अन्तः-करण में आ जाता है, (दूरङ्गमम्) जो दूर-दूर तक जाता, मनुष्य को दूर-दूर तक ले जाता, वा काल-देश की अपेक्षया दूर-दूर के पदार्थों का ग्रहण अर्थात् ज्ञान कराता[1], (ज्योतिषाम्)शब्द आदि विषयों के प्रकाशक श्रोत्र आदि इन्द्रियों को (ज्योतिः) विषयों में प्रवृत्त करता, (एकम्) और एक है, (मे) मेरा (तत मनः) वह मन (शिवसंकल्पम्) कल्याण-कारी संकल्पोंवाला (अस्तु) हो ।

३२. येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥३४।२॥

हे जगदीश्वर ! (अपसः) कर्मनिष्ठ, (मनीषिणः) मन का दमन करनेवाले, (धीराः)तथा ध्यान करनेवाले लोग, (येन) जिस मन के द्वारा, (यज्ञे) अग्निहोत्र आदि धर्म-संयुक्त व्यवहारों, वा योगयज्ञ में, (कर्माणि) अभीष्ट कर्मों को (कृण्वन्ति) करते हैं, तथा (विदथेषु) विज्ञान-सम्बन्धी और याज्ञिय व्यवहारों में अभीष्ट कर्मों को (कृण्वन्ति) करते हैं, (यत्) जो मन (अपूर्वम्) सर्वोत्तम गुणकर्म स्वभाववाला, (प्रजानाम्) प्राणि-मात्र के (अन्तः) हृदय में (यक्षम्) सगत हो रहा है, (मे) मेरा (तत् मनः) वह मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी संकल्पोंवाला (अस्तु) हो ॥

[**अपसः=अपस् कर्मनाम** (निघं० १।१२), तद्वन्तः । **विदथानि=वेदनानि** (निरु० ६।२।७) ; **विदथः=यज्ञः** (निघं० ३।१७) ।]

---

१. भूत भविष्यत् का तथा दूर देश के पदार्थों का ज्ञान कराता ।

३३. यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु ।
यस्मान्नऽ ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
३४।३॥

(यत्) जो मन (प्रज्ञानम्) प्रकृष्टज्ञान का उत्पादक बुद्धिरूप है, (उत) और (चेतः) स्मृति का साधन चित्तरूप, (च) तथा (धृतिः) शरीर के धारण करने का साधनरूप है, (यत्) जो (प्रजासु) मनुष्यों के (अन्तः) हृदयों में, अन्तःकरणों में (ज्योतिः) प्रकाशकरूप, तथा (अमृतम्) आत्मा का साथी होने से नाशरहित है, (यस्मात् ऋते) जिस के विना (किम् चन) कोई भी (कर्म) काम (न) नहीं (क्रियते) किया जाता, हे जगदीश्वर! आप की कृपा से (मे) मेरा (तत्) वह (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी संकल्पोंवाला (अस्तु) हो ।

[ज्ञान के दो साधन हैं—बाह्य इन्द्रियां तथा अन्तःकरण । अन्तःकरण को इन मन्त्रों में "मनः" कहा है । अन्तःकरण के चार रूप हैं — मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार । मन का काम है—मनन करना या संकल्प-विकल्प । बुद्धि का काम है—ज्ञान अर्थात् जानना। चित्त का काम है—स्मरण करना । अहंकार का काम है—अहं भावना="मैं" की भावना । प्रज्ञानम् = ज्ञान तो ऐन्द्रियिक है, और प्रज्ञान यथार्थज्ञानरूप है, जिसे कि "प्रातिभ" कहते हैं । "प्रातिभ-ज्ञान" इन्द्रियरूपी साधनों के विना भी होता है । इसे Intution कहते हैं । दार्शनिक-तत्त्ववेत्ता "धृति-प्रयत्न" भी मानते हैं, जिस के द्वारा चलते-फिरते तथा दौड़ते भी शरीर का धारण होता रहता है । शराब-पान करने पर "धृति-प्रयत्न" कमजोर पड़ जाता है, जिस से शरीर डगमगाता और शरीर में स्थिरता नहीं रहती । सम्भवतः मन्त्र में "धृति" शब्द से धृति-प्रयत्न अभिप्रेत हो । महर्षि दयानन्द ने प्रज्ञान का अर्थ किया है—"विशेषज्ञान" । इसे स्पष्ट करने के लिये ही मन्त्र में प्रज्ञान का अर्थ किया गया है—"प्रकृष्ट-ज्ञान" ।]

३४. येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥३४।४॥

(येन) जिस (अमृतेन)[1] नाशरहित परमात्मा के साथ योगविधि

१. अमृतेन=अमृत+अच् (अर्श आदिभ्योऽच्, अष्टा० ५।२।२७) । अर्थात्

द्वारा युक्त होनेवाले मन द्वारा (भूतम्) व्यतीतकाल-सम्बन्धी, (भुवनम्) वर्त्तमानकाल-सम्बन्धी, और (भविष्यत्) होनेवाले कालसम्बन्धो (सर्वम् इदम्) यह सब त्रिकालस्थ वस्तुमात्र (परिगृहीतम्) सब ओर से गृहीत होता, अर्थात् जाना जाता है; (येन) जिस के द्वारा (सप्तहोता) होता आदि सात ऋत्विजोंवाला (यज्ञः) अग्निष्टोम आदि यज्ञ, वा पांच प्राण, छठा जीवात्मा, और अव्यक्त—ये सात जिसमें लेने-देने के व्यवहारों को करते हैं, ऐसा विज्ञानस्वरूप व्यवहाररूपी यज्ञ (तायते) विस्तृत किया जाता है, (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) शिव अर्थात् कल्याणकारी मोक्षरूप संकल्पवाला(अस्तु) हो।

[योगाभ्यास के साधनों और उपसाधनों से सिद्ध हुआ मन, भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों का ज्ञाता, सब सृष्टि का जाननेवाला, कर्म उपासना और ज्ञान का साधक है (महर्षि दयानन्द, भावार्थ) । योग द्वारा परमात्मा के साथ सम्बन्ध हो जाने पर मन में यह शक्ति प्रकट हो जाती है ।]

३९. यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
३४।५॥

(यस्मिन्) जिस मन में (ऋचः[1]) ऋचाएँ, (यस्मिन्) और जिसमें

अमृत के साथ सम्बन्धवाले मन द्वारा । अमृत-परमात्मा के साथ सम्बन्ध योगविधि द्वारा होता है । इसलिये अमृतेन का अर्थ उक्त प्रकार से महर्षि दयानन्द ने निर्दिष्ट किया है । परमात्मा के साथ मन का सम्बन्ध हो जाने पर मन्त्रोक्त शक्तियां मन में प्रकट हो जाती हैं । अतः अमृतेन=अमृतेन सह सम्बन्धवता मनसा ।

१. 'ऋचः, साम, यजूंषि' ये पद वैदिकरचना-परक हैं । रचनाएं तीन प्रकार की होती हैं—पद्य, गीति, और गद्य । जैसे कि मीमांसाशास्त्र में कहा है कि **"पादबद्ध-रचना ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः शब्दः ।** इन तीन रचनाओं के अन्तर्गत अथर्ववेद है । अतः मन्त्र में चारों वेदों का वर्णन जानना चाहिये । इस दृष्टि से महर्षि दयानन्द ने मन्त्र में अथर्ववेद का भी प्रतिपादन किया है । महर्षि ने ऋक्-प्रधान को ऋग्वेद, साम अर्थात् गीतिप्रधान को सामवेद, तथा गद्यप्रधान को यजुर्वेद लिखा है, और त्रिविध रचनाओंवाले वेद को अथर्ववेद के नाम से सूचित किया है ।

(साम) साम (यजूँषि) और यजुर्मन्त्र (प्रतिष्ठिता) स्थित हैं । (इव) जैसे कि (अराः) अरे (रथनाभौ) रथ के पहिये के बीच के काष्ठ में लगे होते हैं, तथा (यस्मिन्) जिस मन में (प्रजानाम्) प्राणियों का (सर्वम्) समग्र (चित्तम्) सब पदार्थों सम्बन्धी ज्ञान, (ओतम्) सूत्र में मणियों के समान संयुक्त है, (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी, अर्थात् वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रचाररूपी संकल्पवाला (अस्तु) हो ।

३६. सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽ इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरञ्जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥३४।६॥

(इव) जैसे (सुषारथिः) उत्तम चतुर गाड़ीवान, (अश्वान्) लगाम से घोड़ों को (नेनीयते) शीघ्र अभीष्ट प्रदेश में ले जाता, और (अभीशुभिः) रस्सियों से (इव) जैसे (वाजिनः) वेगवाले घोड़ों को वश में करता है, वैसे (यत्) जो मन (मनुष्यान्) मनुष्यों को (नेनीयते) इधर-उधर घुमाता, और उन्हें नियम में रखता है, तथा (यत्) जो मन (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में स्थित, (अजिरम्) विषयादि में प्रेरक, वा वार्द्धक्यादि अवस्था से रहित, और (जविष्ठम्) अत्यन्त वेगवान है, (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी संकल्पोंवाला (अस्तु) हो ।

[हृत्प्रतिष्ठम्="हृदये चित्तसंवित्" (योग ३।३४), अर्थात् चित्त का ज्ञान हृदय में होता है। अजिरम्=अज गतिक्षेपणयोः; तथा अ+जरा (वार्द्धक्य) मन्त्रों में मन की अद्भुतशक्तियों के साथ-साथ शिवसंकल्पों का वर्णन हुआ है। शिवसंकल्प, शक्तिसम्पन्न मन को उत्पथगामी नहीं होने देते ।]

३७. इदमापः प्रवहतावद्यञ्च मलञ्च यत् ।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपेऽ अभीरुणम् ।
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ॥६।१७॥

(आपः) हे सर्वविद्याव्याप्त विद्वान् लोगो ! (आपः) जैसे जल अशुद्धि को दूर करते हैं, वैसे आप (यत्) जो मेरा (अवद्यम्) अकथनीय निन्द्यकर्म (च) और विकार है, (च) और (मलम्) अविद्यारूपी मल है, (इदम्) इस को (प्रवहत) दूर कीजिये । (च) और (यत्) जो (अभि दुद्रोह) मैं द्रोह करता हूं, (अनृतम्) जो मैं असत्य वचन बोलता हूं, (च)

और (यत्) जो (अभीरुणम्) निर्भय निरपराधी को (शेपे) मैं उलाहने देता हूं, (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से, (पवमानः) मेरा पवित्र व्यवहार, (मा) मुझे (मुञ्चतु)मुक्त करे, छुड़ाए। (च) और आप भी उस पाप से मुझे छुड़ाएँ।

३८. अपाघमप किल्बिषमपं कृत्यामपो रपंः।
अपामार्ग त्वमस्मदपं दुःष्वप्न्यं सुव ॥३८।११॥

(अपामार्ग) अपामार्ग ओषधि जैसे रोगों को दूर करती है, वैसे पापों को दूर करनेवाले हे सज्जन पुरुष ! (त्वम्) आप (अस्मत्) हम से (अघम्) पाप को (अप सुव) दूर कीजिये, (किल्बिषम्) मन की मलिनता को (अप) दूर कीजिये, (कृत्याम्) दुष्टक्रिया तथा हिंस्रवृत्ति को (अप) दूर कीजिये, (रपः) बाह्य इन्द्रियों को चञ्चलतारूपी अपराध को (अप उ) दूर कीजिये, तथा (दुःष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों में होनेवाले बुरे विचार को (अप) दूर कीजिये।

[अघम्=हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति (निरु० ६।३।११)। किल्बिषम्= किलति क्रीडति, विचारशून्यतया कार्येषु प्रवर्त्तते येन तत् (उणा० १।५०)। "किल् भिदम् । सुकृतकर्मणो भयम् । कीर्तिमस्य भिनत्तीति वा" (निरु० ११।३।२३), अर्थात् सुकृतकर्मा मनुष्य के लिये जो भयरूप है। अथवा सुकृतकर्मा की कीर्ति को जो छिन्न-भिन्न करे, वह 'किल्बिष' है। भिदम्=भयदम्। अथवा किल्बिषम=निश्चयेन विषमिति। पापकर्म निश्चय से विषरूप है। रपः=रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः (निरु० ४।३।२१) रपः=रप लप व्यक्तायां वाचि। सम्भवतः व्यक्तवाणी का पाप अर्थात् असत्य वचन, निन्दा आदि मुख्यरूप से "रपः" हों। इसीलिये महर्षि दयानन्द ने "रपः" को बाह्य इन्द्रियों का अपराध कहा है।]

३९. यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥३६।२॥

(यत्) जो (मे) मेरे (चक्षुषः) नेत्र की, (हृदयस्य) और अन्तःकरण की (छिद्रम्) न्यूनता है, (वा) या (मनसः) मन की (अतितृण्णम्) अति व्याकुलता है, (तत्) उस क्षति को (बृहस्पतिः) बड़े आकाशादि का पालक परमेश्वर (मे) मेरे लिये (दधातु) पूर्त्ति करे। (यः) जो

(भुवनस्य) सब संसार का (पतिः) रक्षक है, वह परमेश्वर (नः) हमारे लिये (शम्) सुखदायक और कल्याणकारी (भवतु) हो।

—:o:—

४०. इमामंगृभ्णन् रशनामृतस्य पूर्वऽ आयुंषि विदथेषु कव्या ।
सा नोऽ अस्मिन्त्सुतऽ आ बंभूवऽ ऋतस्य सामंन्त्सरमारपंन्ती।।
२२।२।।

(कव्या=कवयः) मेधावी जन (विदथेषु) ज्ञानों की प्राप्ति के निमित्त, (पूर्वे) अपनी प्राथमिक अर्थात् छोटी (आयुषि) आयु में (ऋतस्य) यथार्थ ज्ञान की (इमाम् रशनाम्) इस वेदरूपी वाणी का (अगृभ्णन्) ग्रहण करते हैं। (सामन्) शान्त जीवनों के निमित्त, (ऋतस्य) यथार्थ ज्ञान के (सरम्) स्रोत का (आरपन्ती) सम्पूर्णतया स्पष्ट कथन करती हुई (सा) वह वेदवाणी, (अस्मिन्) इस (सुते) उत्पन्न जगत् में, (नः) हमारे लिये, (आ बभूव) प्रकट हुई है।

[रशनाम्=रशना जिह्वा। तालव्य शकारवान् रशनाशब्दोऽपि काञ्च्यां जिह्वायां चार्थद्वये बोध्यः। तथाहि—"तालव्या अपि दन्त्याश्च शम्बशूकरपांशवः। रशनापि च जिह्वायाम्" इति विश्वकोशात् जिह्वायामुभयं साधु (आचार्य ज्ञानेन्द्र सरस्वती द्वारा कौमुदीस्थ उणादिसूत्र (उणा० २।७६) की तत्त्वबोधिनी व्याख्या)। जिह्वा=वाक् (निघं० १।११)। अथवा "मञ्चाः क्रोशन्ति" "मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति" की तरह जिह्वा=जिह्वास्थ वाक् अर्थात् वाणी, वेदवाणी। वेदवाणी को 'श्रुति' भी कहते हैं,अर्थात् जो गुरुवाणी द्वारा सुनी जाती है, और जिस वाणी का उच्चारण जिह्वा द्वारा ही होता है। ऋतस्य= ऋच्छत्यात्मानं प्राप्नोतीति ऋतम्, यथार्थं वा(उणा०३।८९)बाहुलकात्। तथा— ऋतम् सत्यनाम(निघं०३।१०)। विदथेषु=विदथानि वेदनानि=ज्ञानानि(निरु० ६।२।७)। कव्या=कवयः; कविः मेधावी (निघं०३।१५)। सामन्=*Apeasing, Colming,Comforting, Soothing*(आपटे)। सरम्=सृ गतौ; सरन्ति आपः यस्मात्=स्रोतः। ऋतस्य सरम्=अथवा"यथार्थ ज्ञानरूपी स्रोत"। विकल्पे षष्ठी। शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः (योग १।८), यथा "राहोः शिरः"। राहु और सिर एक ही वस्तु है। राहोः विकल्प षष्ठी है। रपन्ती= रप व्यक्तायां वाचि।]

४१. अनु॑ त्वा मा॒ता म॑न्यताम॒नु॑ पि॒ताऽनु॒ भ्रा॒ता सग॑र्भ्यो॒ऽनु॒ सखा॒ सयू॑थ्यः । सा दे॑वि दे॒वमच्छे॒हीन्द्रा॑य॒ सोम॑ᳬ रु॒द्रस्त्वाव॑र्तयतु स्व॒स्ति सोम॑सखा॒ पुन॒रेहि॑ ॥४।२०॥

हे कन्ये ! ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश के लिये (माता) तेरी उत्पन्न करनेवाली जननी (त्वा अनु मन्यताम्) तुझे अनुमति अर्थात् स्वीकृति दे, (पिता) उत्पन्न करनेवाला जनक (अनु) अनुमति दे, (सगर्भ्यः) एक ही गर्भ में उत्पन्न होनेवाला (भ्राता) भाई (अनु) अनुमति दे, (सयूथ्यः सखा) तेरे संगी-साथी मित्र (अनु) अनुमति दें । (देवि) हे दिव्यगुणों से सम्पन्न हुई ! (सा) वह तू (देवम्) दिव्यगुणों से सम्पन्न स्नातक (अच्छ) को (इहि) पतिरूप में प्राप्त कर । (रुद्रः[1]) रुद्र-कोटि की आचार्या (त्वा) तेरा (आवर्तयतु) समावर्तन-संस्कार करे । तू (इन्द्राय) आत्मशक्ति-सम्पन्न पति के लिये (सोमम्) सौम्य स्वभाववाले पुत्र को (इहि) प्राप्त कर । (स्वस्ति) और कल्याणी तू (पुनः) फिर अर्थात् वारंवार सन्तानार्थ (एहि) पति को प्राप्त हो, और (सोमसखा) सौम्य स्वभाववाले पुत्र को अपना साथी बना ।

[स्वस्ति=सुष्ठु अस्ति वर्त्तत इति (उणा० ४।१८२; दयानन्द-भाष्य ।]

४२. दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । अ॒ग्नीषोमा॑भ्या॒ञ्जुष्ट॒न्नियु॑नज्मि । अ॒द्भ्यस्त्वौष॑धीभ्यो॒ऽनु॑ त्वा मा॒ता म॑न्यता॒मनु॑ पिताऽनु॒ भ्रा॒ता सग॑र्भ्यो॒ऽनु॒ सखा॒ सयू॑थ्यः। अ॒ग्नीषोमा॑भ्यान्त्वा॒ जुष्ट॒म्प्रोक्षा॑मि ॥६।९॥

हे ब्रह्मचारी शिष्य ! (सवितुः) समस्त ऐश्वर्ययुक्त, (देवस्य) वेदविद्या-प्रकाशक परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये इस जगत् में, (अश्विनोः) सूर्य और चन्द्रमा के (बाहुभ्याम्) अन्धकारबाधक गुणों द्वारा, तथा (पूष्णः) पुष्टिकारक पृथिवी के (हस्याभ्याम्) हाथों के समान धारण और

---

१. रुद्रः = जैसे वर्तमान में बी. ए.; एम. ए.; पी. एच. डी. आदि उपाधियों में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं किया जाता, इसी प्रकार "रुद्र" उपाधि भी स्त्री-पुरुष के लिये समानरूप जाननी चाहिये । इसी प्रकार वसु, आदित्य उपाधियां भी समान रूप हैं ।

आकर्षण गुणों द्वारा (त्वा) तुझे [मैं गुरु स्वीकार करता हूँ] । तथा (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि के तेजरूपी गुण, और सोम अर्थात् जल के शान्तिरूपी गुण से (जुष्टम्) प्रीति करनेवाले (त्वा) तुझको, ब्रह्मचर्यधर्म के अनुकूल (अद्भ्यः) जलों और (ओषधीभ्यः) गोधूम आदि अन्नों के सेवन के लिये (नियुनज्मि) नियुक्त करता हूँ । [मेरे समीप रहने के लिये] (माता) तेरी जननी (अनु मन्यताम्) तुझे अनुमोदित करे, (पिता) पिता (अनु) अनुमोदित करे, (सगर्भ्यः) सहोदर (भ्राता) भाई (अनु) अनुमोदित करे, (सखा) मित्र (सयूथ्यः) तथा सहवासी (अनु) अनुमोदित करें । (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि के तेज गुण और सोम अर्थात् जल के शान्तिगुण से (जुष्टम्) प्रीति करनेवाले (त्वा) तुझको (प्रोक्षामि) मैं जल द्वारा अभिषिक्त करता हूँ, सींचता हूँ ।

[अश्विनोः=**अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसौ** (निरु० १२।१।१) । बाहुभ्याम्= **बाहू कस्मात् प्रबाधत आभ्यां कर्माणि** (निरु० ३।२।८), अर्थात् बाहुओं द्वारा कर्म अर्थात् प्रक्षेपण आदि कर्म मनुष्य करता है । तथा **बाध्यन्ते विलोडयन्ते पदार्था याभ्यां तौ बाहू भुजौ** (उणा० १।२८), **बाधृ विलोडने** (भ्वादि०) । "बाधृ" धातु से "बाहु" शब्द बना है। जिस का अर्थ है—विलोडन, कम्पाना। सूर्य और चान्द निज किरणोंरूपी बाहुओं द्वारा अन्धकार को विलोडित करते हैं, विनष्ट करते हैं । गुरु शिष्य को कहता है कि मैं भी विद्याप्रकाश के द्वारा तेरे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करूँगा । पूष्णः=**पूषा पृथिवी** (निघं० १।१) । हाथों द्वारा वस्तु का धारण तथा आकर्षण किया जाता है । पृथिवी सब का धारण करती, और आकर्षण करती है । गुरु आश्वासन देता है शिष्य को, कि मैं भी तेरा धारण-पोषण करूँगा, तथा निज प्रेम और सुरक्षा द्वारा तुझे अपनी ओर आकृष्ट करूँगा । शिष्य को गुरु यह भी आदेश देता है कि ब्रह्मचर्याश्रम में तुझे दृढ़ ब्रह्मचर्य द्वारा अग्निसमान तेजस्वी होने की ओर यत्न करना होगा, तथा सोम के समान शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करना होगा । और जलों के प्रयोग द्वारा शरीरशुद्धि, और सात्त्विक अन्नों का सदा सेवन करना होगा । सोम=water (आपटे) अर्थात् जल ।]

४३. वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्राँस्ते शुन्धामि ॥६।१४॥

हे शिष्य ! (ते) तेरी (वाचम्) वाणी को (शुन्धामि) मैं गुरु शुद्ध करता हूँ, (ते) तेरे (प्राणम्) श्वास-प्रश्वास को (शुन्धामि) मैं शुद्ध करता हूँ, (ते) तेरी (चक्षुः) आंख को (शुन्धामि) मैं शुद्ध करता हूँ, और (ते) तेरी (श्रोत्रम्) श्रोत्रेन्द्रिय को (शुन्धामि) मैं शुद्ध करता हूँ, (ते) तेरी (नाभिम्) नाभि को (शुन्धामि) मैं शुद्ध करता हूँ, (ते) तेरी (मेढ्रम्) जननेन्द्रिय को (शुन्धामि) मैं शुद्ध करता हूँ, (ते) तेरी (पायुम्) गुदेन्द्रिय को (शुन्धामि) मैं शुद्ध करता हूँ, (ते) तेरे (चरित्रान्) आचार-व्यवहारों को (शुन्धामि) मैं शुद्ध करता हूँ। "तथा गुरुपत्नी पक्ष में सर्वत्र 'करती हूँ', यह योजना करनी चाहिये" (म० दयानन्द)।

[वाणी की शुद्धि सत्य तथा मधुर बोलने द्वारा, प्राण की शुद्धि प्राणायाम द्वारा, चक्षु की शुद्धि पवित्रदृष्टि द्वारा, श्रोत्र की शुद्धि मन्त्रादि श्रवण द्वारा, नाभि की शुद्धि प्रजननविद्या की शिक्षा द्वारा, यथा "जनः पुनातु नाभ्याम्", मेढ्र की शुद्धि ब्रह्मचर्यव्रत द्वारा, वायु की शुद्धि मल-त्याग के साधनों की शिक्षा द्वारा होती है।]

४४. मनस्तऽ आप्यायतां वाक् तऽ आप्यायताम्प्राणस्तऽ आप्यायताञ्चक्षुस्तऽ आप्यायताᳬश्रोत्रन्तऽ आप्यायताम्। यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्तऽ आप्यायतान्निष्ट्यायतान्तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनᳬहिᳬसीः ॥६।१५॥

हे शिष्य ! (ते) तेरी (मनः) मानसिक (आप्यायताम्) वृद्धि हो। (ते) तेरी (वाक्) वक्तृत्वशक्ति (आप्यायताम्) वृद्धि को प्राप्त हो। (ते) तेरा (प्राणः) प्राण (आप्यायताम्) बलयुक्त हो। (ते) तेरी (चक्षुः) दृष्टि-शक्ति (आप्यायताम) वृद्धि प्राप्त करे। (ते) तेरी (श्रोत्रम्) श्रवणशक्ति (आप्यायताम्) वृद्धि प्राप्त करे। (ते) तेरा (यत्) जो (क्रूरम्) क्रूरता का दुष्टव्यवहार है, वह (निः स्तायताम्) दूर हो। (यत्) जो (ते) तेरी (आस्थितम्) धर्मकर्म में आस्था है, दृढ़ता और निश्चय है, (तत्) वह (आप्यायताम्) बढ़े। (ते) तेरा (तत्) उपर्युक्त व्यवहार (शुध्यतु) शुद्ध हो। (अहोभ्यः) प्रतिदिन (शम्) तुझे शान्ति और सुख प्राप्त हो। (ओषधे) रोगविनाशक ओषधि के समान दोषनिवारक हे आचार्य ! (एनम्) इस शिष्य की (त्रायस्व) रक्षा कीजिये। (स्वधिते) कुल्हाड़ा जैसे वनों को काटता है, वैसे शिष्य की दुष्प्रवृत्तियों की जड़ काटनेवाले हे

आचार्य! (एनम्) इस शिष्य की (मा हिंसीः) व्यर्थ में ताड़ना मत कीजिये। तथा हे आचार्य! तू इस कुमारी शिष्या की रक्षा कर, और इस को अयोग्य ताड़ना मत दे (महर्षि दयानन्द)।

[ओषधे="आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः" (अथर्व ११।५।१४) में आचार्य को "ओषधयः" कहा है। मन्त्र के पिछले भाग में बालक का पिता आचार्य से प्रार्थना करता है।]

४५. न तद्रक्षांꣳसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजꣳ ह्येतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणꣳ हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ॥३४।५१॥

(प्रथमजम्) प्रथम अवस्था अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में उत्पन्न हुआ, (देवानाम्) विद्वानों का जो (एतत्) यह (ओजः) बलपराक्रम है, (तत्) उस को न (रक्षाँसि हि) न अन्यों को पीड़ा विशेष देकर अपनी ही रक्षा करनेवाले, और (न पिशाचाः) न प्राणियों की हिंसा कर मांस-रुधिरादि का खान-पान करनेवाले दुष्टजन (तरन्ति) उल्लंघन करते हैं। (यः) जो मनुष्य (दाक्षायणम्) वृद्धि प्राप्त करानेवाले (हिरण्यम्) तेजःस्वरूप वीर्य का (बिभर्ति) धारण और पोषण करता है, (सः) वह (देवेषु) विद्वानों में (दीर्घम् आयुः) अधिक आयु को (कृणुते) प्राप्त करता है। (सः) वह (मनुष्येषु) मननशील जनों में (दीर्घम् आयुः) अधिक आयु को (कृणुते) प्राप्त करता है।

[दाक्षायणम्=दाक्ष=दक्ष (स्वार्थे अण्)+अयनम्। हिरण्यम्= हिरण्यं रेतसि (मेदिनी)। अभिप्राय यह है कि मांस-रुधिर के सेवन से परि-पुष्ट व्यक्ति भी, ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त बल को परास्त नहीं कर सकते।]

—:०:—

४६. विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यꣳ सध्र्यक्कः। अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात्॥३३।५९॥

(सरमा) पति के साथ रमण करनेवाली, (प्रथमा) सद्गुणों में

प्रख्यात, (सुपदी) पदविद्या अर्थात् व्याकरण जाननेवाली, (अक्षराणाम्) और पदों के अक्षरों के (अच्छ रवम्) शुद्ध उच्चारण को (जानती) जानती हुई पत्नी (यदी=यदि) यदि (रुग्णम्) रोगविद्या को भी (विदत्) जाने, और (सध्रचक्) साथ ही (अद्रेः) मेघ से उत्पन्न हुए, (महि) महा-गुणयुक्त, (पूर्व्यम्) श्रेष्ठ (पाथः) अन्न को (कः) भोजनार्थ सिद्ध करे, तो वह (अग्रम्) गृहस्थ को आगे, अर्थात् उन्नति के मार्ग पर (नयत्) पहुँचाने-वाली होती है. ऐसी पत्नी (गात्) पति को प्राप्त हो ।

[रुग्णम्=भावे क्तः । अद्रिः=मेघनाम (निघं० १।१०) । पाथः=पाति रक्षतीति पाथः भक्तम् (अन्नम्; उणा० ४।२०६), तथा अन्नमपि पाथ उच्यते पानादेव(निरु० ६।२।६)। सध्रचक्=सह अञ्चतीति ।सरमा=स+रमा ।]

४७. दृꣳहस्व देवि पृथिवि स्वस्तयऽ आसुरी माया स्वधया कृतासि।
जुष्टं देवेभ्यऽ इदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञेऽ अस्मिन्॥
११।६९॥

(पृथिवि) विस्तृत भूमि के समान विद्या के विस्तार को प्राप्त हुई, (देवि) हे देवी ! (स्वधया) अन्न द्वारा (स्वस्तये) सब को सुख प्रदान करने के लिये, (आसुरी) प्रज्ञावालों द्वारा सुशिक्षिता तू (माया) प्रज्ञामयो (कृता) की गई (असि) है, (दृंहस्व) तू मुझ पति को दृढ़व्रती बना । तेरे द्वारा दिया गया (इदम्) यह (हव्यम्) हविष्य, अर्थात् सात्विक अन्न (देवेभ्यः) मातृदेव, पितृदेव, अतिथिदेव के लिये, या उत्तमगुणों की प्राप्ति के लिये (जुष्टम्) सेवनीय (अस्तु) हो । (त्वम्) तू (अरिष्टा) हिंसा-रहित हुई-हुई, अर्थात् कष्टों और व्यथाओं से रहित हुई-हुई, (अस्मिन्) इस (यज्ञे) संग करने योग्य गृहाश्रम में (उदिहि) समुन्नत हो ।

[आसुरी=असु प्रज्ञा (निघं० ३।९), तद्वन्तः असुराः, तत्सम्बन्धिनी शिष्या आसुरी । माया=प्रज्ञा (निघं० ३।९) । स्वधा=अन्न(निघं० २।७); "स्व+धा", जो कि अपने लिये धारण-पोषण का साधन हो,अर्थात् अन्न । पृथिवी=प्रथ विस्तारे, इस यौगिकार्थ द्वारा महर्षि ने "विद्या के विस्तारवाली" अर्थ किया है ।]

४८. लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥१२।५४॥

हे पत्नी ! तू (लोकम्) इहलोक और परलोक को (पृण) तृप्त कर। इस सम्बन्ध में (छिद्रम्) जो क्षति या कमी है, उस की (पृण) पूर्त्ति कर। (अथो) तथा (त्वम्) तू (ध्रुवा) गृहस्थाश्रम में निज कर्त्तव्यों में ध्रुव होकर (सीद) स्थित हो। (इन्द्राग्नी) राजा और राज्य के अग्रणी नेता ने, तथा (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी के रक्षक पुरोहित ने (त्वा) तुझे (अस्मिन्) इस (योनौ) घर में (असीषदन्) स्थापित किया है।

[लोकं पृण=अभिप्राय यह है कि गृहस्थाश्रम में लौकिक और पारलौकिक, अर्थात् सांसारिक और आध्यात्मिक जीवनों में परस्पर समन्वय चाहिये। यथा "पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम्" (अथर्व० १४।१।४२), अर्थात् पति के अनुकूल होकर, अमृत की प्राप्ति के लिये तू प्रयत्नशील हो। इन्द्राग्नी=इन्द्रश्च सम्राट् (यजुः ८।३७); अग्निः=अग्रणीर्भवति (निरु० ७। ४।१४) राज्य का अग्रणी प्रधानमन्त्री। ये दोनों मिल कर विवाह आदि के नियम निश्चित करते हैं,जिससे गृहव्यवस्था स्थिर होती है। बृहस्पतिः= बृहती छन्दोभेदो वा (उणा० २।८५; म० दया०), तस्याः पतिः पुरोहितः। पुरोहित विवाह का करानेवाला, तथा विवाह का साक्षी है। योनौ=योनिः गृहनाम (निघं० ३।४)।]

४९. ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया।
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥
१४।१॥

हे स्त्रि ! (साधुया) श्रेष्ठ धर्म से युक्त हुई तू, (उख्यस्य) बटलोई में पकाए जानेवाले अन्न के (प्रथमम्) श्रेष्ठ (केतुम्) ज्ञान का (जुषाणा) प्रीतिपूर्वक सेवन, अर्थात् ग्रहण करती हुई, (ध्रुवक्षितिः) स्थिर निवास करनेवाली, (ध्रुवयोनिः) सुदृढ़ घर में रहनेवाली, (ध्रुवा असि) दृढ़तापूर्वक धर्म से युक्त है। वह तू (ध्रुवम्) सुदृढ़ (योनिम्) घर में (आ सीद) आकर विराजमान हो। (अध्वर्यू) गृहस्थ-यज्ञ के जुटानेवाले (अश्विना) पति के माता-पिता (त्वा) तुझे (इह) इस घर में (सादयताम्) स्थापित करें, बसाएं।

[क्षितिः=क्षि निवासे। योनिः=गृहनाम (निघं० ३।४)। केतुम्=प्रज्ञाम् (निघं० ३।९)। अध्वर्यू=अध्वर हिंसारहित यज्ञ, उसे जुटानेवाले। अश्विना=द्यावापृथिव्यौ (निरु० १२।१।१), तथा "द्यौरहं पृथिवी त्वम्, ताविह

सं भवाव प्रजामा जनयावहै" (अथर्व० १४।२।७१) । इस मन्त्र में पुरुष को द्यौः, और स्त्री को पृथिवी कहा है ।]

९०. कुलायिनी घृतवती पुरंन्धिः स्योने सीद सदंने पृथिव्याः ।
अभि त्वा रुद्रा वसंवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पिपीहि सौभंगाय ।
अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥१४।२॥

(कुलायिनी) समग्र कुल जिसमें आ सके, ऐसे घरवाली, (घृतवती) घतादि भोज्य-सामग्री से सम्पन्न, (पुरन्धिः) बहुत सुख-सामग्री को धारण करनेवाली ! तू (पृथिव्याः) निज भूमि पर बने (स्योने) सुखदायी (सदने) घर में (सीद) स्थित हो । (रुद्राः) मध्यकक्षा के विद्वान्, (वसवः) तथा प्रथम कक्षा के विद्वान् (त्वा अभि) तेरे अभिमुख होकर, (गृणन्तु) तुझे सदुपदेश दिया करें। और तू (इमा ब्रह्म) इन वैदिक उपदेशों की (पीपिहि) प्रवृद्धि करती रह, (सौभगाय) ताकि घर का सौभाग्य हो । (अश्विना—) पूर्ववत् ।

[कुलायिनी =अथवा प्रशंसित कुल की प्राप्ति से संयुक्त हुई । (म० दयानन्द) ।]

९१. स्वैर्दक्षैर्दक्षंपितेह सीद देवानांᳩ सुम्ने बृहते रणाय ।
पितेवैंधि सूनवऽ आ सुशेवा स्वावेशा तन्वा संविंशस्वाश्विनो-
ध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥१४।३॥

(दक्षपिता) बलों का पिता अर्थात् शक्ति सम्पन्न तेरा पति, जैसे (बृहते रणाय) महादेवासुर संग्राम के लिये,(देवानां सुम्ने)धर्मात्मा विद्वानों के सुखों के निमित्त, (इह) इस गृहाश्रम में स्थित होता है, वैसे हे स्त्रि ! तू भी(स्वैः दक्षैः)निज आत्मिकादि बलों से सम्पन्न हुई-हुई, इस गृहस्थाश्रम में (सीद) स्थित हो । (पिता इव) पिता के सदृश (सूनवे) पुत्र के लिये तू भी (सुशेवा) उत्तम सुखदायिनी (आ एधि) सब प्रकार से हो । (स्वावेशा) सुन्दर वस्त्रों और अलंकारों को धारण करती हुई, (तन्वा) शरीर द्वारा (संविशस्व) घर में प्रवेश कर, या पति के साथ संस्पर्श कर । (अश्विना ··) पूर्ववत् ।

[सुम्ने =सुम्नम् सुखनाम (निघं० ३।६)। दक्षः =बलनाम (निघं०२।९) ।

शेवम्=सुखनाम (निघं० ३।६)। "इह देवानां सुम्ने"=अथवा मातृदेव, पितृ-देव आदि के सुखदायी इस घर में जैसे तेरा पति रहता है, वैसे ही हे स्त्रि! तू भी उस सुखदायी घर में रह।]

८२. पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वेऽ अभि गृणन्तु देवाः। स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्वा-श्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥१४।४॥

हे स्त्रि! जो तू (पृथिव्याः) पृथिवी के (पुरीषम्) जल के सदृश शीतल स्वभाववाली, (अप्सः) सुन्दररूपवाली, तथा (नाम) उत्तम नाम-वाली या प्रसिद्ध (असि) है, (ताम्) उस (त्वा) तुझ को (विश्वे) सब (देवाः) मातृदेव पितृदेव आचार्यदेव (अभि) तेरे अभिमुख=संमुख होकर, (गृणन्तु) सत्कर्मों के सदुपदेश दिया करें। (स्तोमपृष्ठा) स्तोमों अर्थात् स्तुति के साधनभूत मन्त्रों के गेयस्वरूपों तथा तत्सम्बन्धी सामगानों को जाननेवाली, (घृतवती) और घृतादि भोज्य-पदार्थों से सम्पन्न, तू (इह) इस घर में (सीद) स्थित हो=विराजमान हो। और (अस्मे) हमारे लिये (प्रजावत्) उत्तम सन्तानों के सदृश (द्रविणा) उत्तम बल (यजस्व) प्रदान कर। (अश्विना……) पूर्ववत्।

[पुरीषम्=उदकनाम (निघं० १।१२)। अप्सः=रूपनाम (निघं० ३।७)। नाम=अथवा नम प्रह्वत्वे; यथा इदमपीतरन्नामैतरमादेवाभिसन्नामात् (निरु० ४।४।२७)। गृणन्तु=गृणातेः स्तुतिकर्मणः (निरु० ३।१।५)। स्तोमपृष्ठा=यथा "एतेष्वेव स्थानव्यूहेष्वृतुच्छन्दः स्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयीत" (निरु० ७।३।११); अर्थात् स्तोमों और स्तोत्रों को जाननेवाली। द्रविणा=द्रविणम् बल-नाम (निघं० २।९)। यजस्व=यज दाने। अप्सः=यद्यपि अप्सः का अर्थ होता है "रूप", नकि रूपवाला या रूपवाली। मन्त्र में अप्सः द्वारा यह दर्शाया है कि स्त्री सुन्दर रूपवाली न होकर, घनीभूत सुन्दर रूप ही है। इस के द्वारा "रूपातिशय" को द्योतित किया है।]

८३. इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति। एता तेऽ अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात् ॥८।४३॥

(इडे) हे प्रशंसनीय गुणों से युक्त!, (रन्ते) रमणीये!, (हव्ये) हे स्वीकार करने योग्य!, (काम्ये) हे मेरी कामना के अनुकूल वर्तनेवाली!,

(चन्द्रे) हे अत्यन्त आनन्द देनेवाली !, (ज्योते) हे श्रेष्ठ शील से प्रकाशमान !, (अदिते) हे आत्मस्वरूप से विनाश को न प्राप्त होनेवाली, या अखण्डित व्रतोंवाली !, (सरस्वति) हे प्रशंसित विज्ञानवाली !, (महि) हे अत्यन्त प्रशंसा के योग्य !, (विश्रुति) हे सदगुणों में विश्रुत अर्थात् प्रसिद्ध, तथा विविध श्रुतियों अर्थात् वेदमन्त्रों को जाननेवाली ! (अघ्न्ये) हे ताड़ना न देने योग्य पत्नी ! (एता) ये (ते) तेरे (नामानि) नाम हैं। (देवेभ्यः) उत्तमगुणों की प्रप्ति के लिये, तू (मा) मुझ पति को (सुकृतम्) उत्तम कर्मों का उपदेश (ब्रूतात्) किया कर।

[जो विद्वानों से शिक्षा पाई हुई स्त्रियां हों, वे अपने-अपने पति को यथायोग्य उत्तम कार्य सिखावें (भावार्थ,महर्षि दयानन्द)। इडे=ईड स्तुतौ। अदिते=अ+दो अवखण्डने।]

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः।
उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥३८।५॥

(सरस्वति) हे विज्ञानवाली स्त्रि ! (यः) जो (ते) तेरा (स्तनः) स्तन (शशयः) शिशु को सुलाता, (यः) जो (मयोभूः) सुखोत्पन्न करता, (यः) जो (रत्नधाः) रत्नरूपी उत्तमोत्तम गुणों को धारण कराता, (वसुविद्) सभ्यता-सदाचाररूपी धन प्राप्त कराता, (यः) जो (सुदत्रः) शिशु की शुद्धि करता, और उसे पालता; (येन)तथा हे सरस्वति ! जिस स्तन से तू शिशु के (विश्वा वार्याणि)सब वरणीय श्रेष्ठ गुणों को(पुष्यसि) परिपुष्ट करती है, (तम्) उस स्तन को (इह) इस गृहस्थाश्रम में (धातवे) शिशु को पिलाने के लिये (अकः) स्वस्थस्वरूप कर। ताकि मैं पति (उरु अन्तरिक्षम्) विस्तृत अन्तरिक्ष का (अन्वेमि) अनुगामी[1] हो जाऊँ।

[साधु आचार तथा साधु विचारोंवाली माता, सात्विक लोरियां देती हुई, निज दूध द्वारा शिशु को सद्गुणी बना सकती है। माता का दूध

१. पति कहता है पत्नी को कि जैसे विस्तृत आकाश निज विस्तार द्वारा सर्वोपकारी है, वैसे मैं भी निज कार्यक्षेत्र का विस्तार कर समाजसेवा कर सकूं। "**अपत्यस्यैव चापत्यम् तदारण्यं समाविशेत्**"का विचार कर पति,सन्तानपालन का निर्देश पत्नी को देता है। पति ने भविष्यत्कालिक अपने विचार का प्रदर्शन किया है।

शिशु के लिये पुष्टिकर होता है, तथा उसके पेट के विकारों को पृथक् कर उसका परिपालक होता है।

सरस्वति=सरस् विज्ञानम् (उणा० ४।१९०; म० दया०) + मतुम्। मयः सुखनाम (निघं० ३।६)। सुदत्रः=सु+द (दैप् शोधने) + त्रैङ् पालने। धातवे= धेट् पाने+तवेन्।]

५५. इडा॑मग्ने पुरु॒दꣳस॑ꣳ स॒निं गोः श॑श्वत्त॒मꣳ हव॑मानाय साध। स्यान्नः॑ सू॒नुस्तन॑यो वि॒जावाग्ने॒ सा ते॑ सुम॒तिर्भू॑त्व॒स्मे॥१२।५१॥

(अग्ने) हे ज्ञानाग्निसम्पन्न आचार्य! (हवमानाय) विद्याग्रहण करते हुए हमारे पुत्र के लिये आप (इडाम्) स्तुतियोग्य वक्तृत्वशक्ति को, (पुरुदंसम्) बहुत कर्म जिससे सिद्ध हों ऐसे (सनिम्) ऋग्वेदादिवेदविभाग को, (गोः) वेदवाणीसम्बन्धी (शश्वत्तमम्) शाश्वत, अनादि-अनन्त वेद-विज्ञान को (साध) सिद्ध कीजिये। और (अग्ने) हे विद्वन्! (ते) आपका (सा) वह (सुमतिः) शुभ परामर्श (अस्मे) हमारे लिये (भूतु) हो, जिस से (नः) हमारा (सूनुः) पुत्र (तनयः) वंश का विस्तार करनेवाला, (विजावा) और विविध प्रकार के ऐश्वर्यों का उत्पादक (स्यात्) हो।

[हवमानाय=हु आदाने च इत्येके। इस "आदान" अर्थ की दृष्टि से महर्षि ने 'विद्याग्रहण" अर्थ किया है। गोः वाङ्नाम (निघं० १।११)। विजावा= वि+जा (जन्) + वनिप्।]

५६. उप॑ नः सू॒नवो॒ गिरः॑ शृ॒ण्वन्त्व॒मृत॑स्य॒ ये। सु॒मृ॒डी॒का भ॑वन्तु नः॥३३।७७॥

(ये) जो (नः) हमारी (सूनवः) सन्तानें (अमृतस्य) अविनाशी परमेश्वर के सम्बन्ध की, या नित्यवेद की (गिरः) वाणियों को, (उप शृण्वन्तु) अध्यापकादि के निकट होकर सुनें, वे (नः) हमारे लिये (सुमृडीकाः) उत्तम सुखकारी (भवन्तु) हों।

५७. प्रैतु॑ ब्रह्म॑ण॒स्पति॒ः प्र दे॒व्ये॑तु सू॒नृता॑। अच्छा॑ वी॒रं नर्य॑ं प॒ङ्क्तिरा॑धसं दे॒वा य॒ज्ञं न॑यन्तु नः॥३३।८९॥

(नः) हमें (ब्रह्मणः पतिः) वेदों का रक्षक अधिष्ठाता विद्वान् (प्र एतु) प्राप्त हो, (देवी) शुभ गुणों को प्रकाशित करनेवाली, (सूनृता) प्रिय-

रूपा तथा सत्यलक्षणों से युक्त वाणी (प्र एतु) प्राप्त हो। (देवाः) विद्वान् लोग, (नर्य्यम्) मनुष्यों में उत्तम, (पंक्तिराधसम्) मनुष्यसमाज के अभीष्टों को सिद्ध करनेवाले, (यज्ञम्) विद्वानों के पूजक, सत्संगी और दानशील (वीरम्) शूरवीर पुत्र (नः) हमें (अच्छे) अच्छे प्रकार (नयन्तु) प्राप्त कराएँ।

[सूनृता=True & agreeable speech (आप्टे)।]

९८. सोमो धेनुं सोमो अर्वन्तमाशुं सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै॥३४।२१॥

(यः) जो सद्गृहस्थ (अस्मै) इस परमेश्वर के प्रति (ददाशत्) निज कर्मों को समर्पित कर देता है, उसे (सोमः) सर्वोत्पादक परमेश्वर (धेनुम्) दुधार गौ (ददाति) देता है। (सोमः) सर्वोत्पादक परमेश्वर (अर्वन्तम्) वेग से चलनेवाला, तथा (आशुम्) मार्ग में शीघ्रगामी अश्व देता है। (सोमः) सर्वोत्पादक परमेश्वर (कर्मण्यम्) कर्मों में कुशल पुरुषार्थी, (सादन्यम्) आसन-प्रदान आदि सत्कार-क्रियाओं में प्रवीण, (विदथ्यम्) ज्ञानगोष्ठियों में चतुर, (सभेयम्) सभा में बैठने योग्य, (पितृश्रवणम्) तथा माता-पिता की आज्ञाओं को सुननेवाला (वीरम्) शूरवीर पुत्र देता है।

[समर्पण द्वारा सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्त होता है, और सर्वगुण-सम्पन्न सन्तानें भी प्राप्त होती हैं।]

९९. विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व।
श्रदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः।
पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारप ऽएधते गृहे॥
८।५॥

(विवस्वन्) हे अज्ञानान्धकार का विवासन अर्थात् विनाश करनेवाले, (आदित्य) सूर्यसम प्रतापी आदित्य ब्रह्मचारिन्! (ते) तेरे लिये (एषः) यह (सोमपीथः) सोम आदि ओषधियों के रस जिसमें पीने होते हैं, ऐसा गृहस्थाश्रम है। (तस्मिन्) उस में तुम (मत्स्व) आनन्दित रहो। (नरः) हे मनुष्यो! (अस्मै) इस (वचसे) कथन में (श्रत् दधातन) श्रद्धा

करो (यत्) जो कि (आशीर्दा) **सन्तानों** को सदा आशीर्वाद देनेवाले (दम्पती) पति-पत्नी (वामम्) वननीय **अर्थात्** श्रेष्ठ पुत्र (अश्नुतः) प्राप्त करते हैं। उन के (पुमान्) पुरुषार्थी (पुत्रः) पुत्र (जायते) पैदा होता है, जो कि (वसु) धन, तथा वासयोग्य सद्गुणों को (विन्दते) प्राप्त होता है। (अध) इस के अनन्तर वह (विश्वाहा) सब दिन (अरपः) निष्पाप होकर (गृहे) घर में (एधते) वृद्धि को प्राप्त करता है।

[**विवस्वन् = विवासनम्** Expulsion (**आपटे**)। सोमपीथः = गृहस्थ में शक्तिक्षीणता की क्षति-पूर्ति के लिये सोम आदि ओषधियों का सेवन करते रहना चाहिये। **वामम् = वननीयम्** (निरु० ६।४।२२)। **वामः = शोभनः** (उणा० १।१४०; म० दया०)। आशीर्दा = सन्तानों को सदा आशीर्वाद के वचनों द्वारा सत्कर्मों के लिये प्रोत्साहित करते रहना चाहिये। व्यर्थ की डांट-डपट का आश्रय न लेना चाहिये। **दम्पती = जाया च पतिश्च**, अथवा "घर के रक्षक तथा स्वामी अर्थात् पति-पत्नी। **दमे = गृहनाम** (निघं० ३।४)। तथा "**दम**" **इति गृहनाम** (निरु० ४।१।५)। अंग्रेजी में Dome; Domestic; Domicile; दम (गृह) के ही रूप हैं। **दम्पती = दम** (गृह) + **पती**।]

६०. पिता नोऽसि पिता नो बोधि नमस्तेऽ अस्तु मा मा हिँसीः।
त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेम पुत्रान् पशून्मयि धेहि प्रजामस्मासु धेह्यरिष्टाहँ सह पत्या भूयासम् ॥३७।२०॥

हे जगदीश्वर ! आप (नः) हमारे (पिता) पिता के समान (असि) हैं, (पिता) पिता के सदृश आप (नः) हमें (बोधि) बोधयुक्त कीजिये। (ते) आप के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो। (मा) मेरी (मा) मत (हिंसी) हिंसा कीजिये। (त्वष्टृमन्तः) प्रकाशस्वरूप आप के उपासक हम (त्वा) आप की (सपेम) परिचर्या तथा अर्चना करें। (पुत्रान्) पवित्र गुण-कर्म स्वभाववाली सन्तानें, और (पशून्) गौ आदि पशु (मयि धेहि) मुझ प्रदान कीजिये। (प्रजाम्) उत्पादकशक्ति (अस्मासु) हम में (धेहि) स्थापित कीजिये। (अरिष्टा) अहिंसित हुई (अहम्) मैं (पत्या सह) पति के साथ (भूयासम्) होऊँ या रहूँ।

[हिंसी = परमेश्वर की छाया, अर्थात् आश्रय में रहना "**अमृत**" पाना है, और उसकी छाया का परित्याग "**मृत्यु**" है, हिंसा है। "**यस्यच्छाऽमृतं यस्य मृत्युः**" (यजुः २५।१३)। **त्वष्टा = त्विष् दीप्तौ**। **सपेम = परिचरणकर्मा** (निघं०

३।५); अर्चतिकर्मा (निघं० ३।१४)। प्रजाम्=Procreation, birth, generation,semen (आपटे)। तथा "प्रजा" शब्द के द्वारा पुत्रियों तथा भृत्य आदि का भी ग्रहण होता है। अरिष्टा=पति द्वारा कष्ट न पाती हुई।]

६१. समितꣳ संकल्पेथाꣳ संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ।
इषमूर्जमभि संवसानौ ॥१२।५७॥

हे विवाहित स्त्री-पुरुषो ! तुम दोनों (सं प्रियौ) आपस में सम्यक् प्रीतिवाले, (रोचिष्णू) विषयासक्ति से पृथक् होकर कान्ति से सम्पन्न, (सुमनस्यमानौ) परस्पर सुप्रसन्न मनोंवाले, (संवसानौ) सुन्दर वस्त्र आदि से विभूषित हुए (सम् इतम्) इकट्ठे रहा करो। और (इषम्) अभीष्टों तथा (ऊर्जम्) अन्न बल और प्राणशक्ति को (अभि) लक्ष्य बनाकर (संकल्पेथाम्) एक अभिप्रायवाले होओ, एक प्रकार के संकल्प किया करो।

६२. सं वां मनाꣳसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्।
अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं नऽ इषमूर्जं यजमानाय धेहि ॥१२।५८॥

हे विवाहित स्त्रीपुरुषो! (वाम्) तुम दोनों की (मनांसि) संकल्प-विकल्प आदि अन्तःकरण की वृत्तियों को (सम् आकरम्) मैं परमेश्वर समानरूपवाली करता हूँ। (व्रता) सत्यभाषणदि व्रतों को (सम् आकरम्) समानरूपवाले करता हूँ, (उ) और (चित्तानि) ज्ञानों को (सम् आकरम्) समानरूपवाले करता हूँ। (अग्ने पुरीष्य) स्त्री-पुरुष कहते हैं कि हे अग्नि के सदृश रुद्ररूप, तथा जल के सदृश शीतल स्वभाववाले परमेश्वर ! (त्वम्) आप (नः) हमारे (अधिपाः) सर्वाधिक रक्षक (भव) हूजिये। और (यजमानाय) गृहस्थ को यज्ञरूप में निभानेवाले पुरुष और स्त्री के लिये (इषम्) अभीष्ट फल तथा (ऊर्जम्) शारीरिक और आत्मिक बल (धेहि) प्रदान कीजिये।

[पुरीषम् उदकनाम (निघं० १।१२)। परमेश्वर दुष्कर्मों के दुःखरूप फल देने से रुद्ररूप है, और यह फल वह शान्त स्वभाव में देता है, इस लिये वह जल के सदृश शीतल स्वभाववाला है। न्यायाधीश कठोर दण्ड भी देता है,

परन्तु न्यायाधीश क्रोध में आकर कठोर दण्ड नहीं देता, अपि तु कठोर दण्ड देते हुए भी वह प्रशान्तचित्त ही होता है। यही अवस्था परमेश्वर के आग्नेय और पुरीष्य रूपों की है। गृहस्थी निज कर्मों के सुधार के लिये परमेश्वर के इन दोनों रूपों को सर्वाधिक रक्षकरूप में चाहते हैं। अग्ने="अग्निरपि रुद्र उच्यते" (निरु० १०।१।७)।]

६३. भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥१२।६०॥

हे विवाहित स्त्रीपुरुषो! तुम दोनों (नः) हमारे लिये (समनसौ) एकसे विचारवाले, (सचेतसौ) एक से बोधवाले, या सदा सत्कर्मों के लिये सचेत, (अरेपसौ) पापों और अपराधों से रहित (भवतम्) होओ। (यज्ञम्) देवपूजा, सत्संग और दान देने को (मा) मत (हिंसिष्टम्) त्यागो। (यज्ञ-पतिम्) यज्ञियकर्मों के स्वामी परमेश्वर के (मा) विमुख न होओ। (अद्य) आज से (नः) हमारे लिये (जातवेदसौ) विज्ञानों को प्राप्त हुए तुम (शिवौ) मङ्गलकारी (भवतम्) होओ।

[यज्ञपतिम्="स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्" (अथर्व० १३।७।४०) अर्थात् परमेश्वर स्वयं यज्ञस्वरूप है, यज्ञिय कर्मों का स्वामी है, यज्ञों का शिररूप है।]

**६४. गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्ज्जं बिभ्रतऽ एमसि।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥
३।४१॥**

(गृहाः) हे गृहवासियो! तुम (मा बिभीत) गृह्य कर्तव्यों के अनुष्ठान से भयभीत मत होओ, (मा वेपध्वम्) और मत कांपो। (ऊर्जम्) अन्न और शौर्यादि पराक्रमों को (बिभ्रतः) धारण किये हुए तुम लोगों को (एमसि) हम गुरुजन प्राप्त होते रहेंगे। और (सुमनाः) प्रसन्नचित्त, (सुमेधाः) उत्तम बुद्धियुक्त, (मनसा मोदमानः) मन से प्रसन्न होता हुआ, तथा तुम्हारे लिए (ऊर्जम्) बल और प्राणशक्ति को धारण करता हुआ, (गृहान्) तुम गृह-वासियों को (एमि) मैं आचार्य प्राप्त होता रहूंगा।

["गृह" शब्द नपुंसकलिङ्ग है। पुँल्लिङ्ग "गृहाः" द्वारा गृहवासियों का ग्रहण किया है। ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन कर, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हुए

पुत्रों को, माता-पिता आदि गुरुजन तथा आचार्य, मन्त्र द्वारा आश्वासन देते हैं कि हम तुम्हें मिलते तथा सदुपदेश देते रहेंगे। तुम अपने गृह्य कर्मों के करने में भयभीत तथा विमुख न होओ।]

६५. उपहूताऽ इह गावऽ उपहूताऽ अजावयः। अथोऽ अन्नस्य कीलाल ऽ उपहूतो गृहेषु नः। क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ॥३।४३॥

हे गृहवासियो! (वः)तुम्हारी (क्षेमाय) रक्षा के लिये,तथा (शान्त्यै)शान्ति के लिये (इह) इस घर में (गावः) गौएं (उपहूताः) प्राप्त हैं। और (अजावयः) बकरियां-भेड़ें (उपहूताः) प्राप्त हैं। (अथो) तथा (नः) हमारे (गृहेषु) इन घरों में (अन्नस्य) अन्नों का (कीलालः) रस (उपहूतः) प्राप्त है। [मैं तुम्हारा पिता] (शिवम्) कल्याणमार्ग को, (शग्मम्) शान्ति प्राप्त करने के साधनों को (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूँ, (शंयोः-शंयोः) तथा प्राप्त रागद्वेषादि रोगों की शान्ति, और अप्राप्तों की पूर्णनिवृत्ति को प्राप्त करता हूँ।

[वानप्रस्थोन्मुख पिता का यह कथन है। **शंयोः="शम्" शमनं रोगाणाम्; "योः" यावनं भयानाम्। शमु उपशमे क्विप्। "योः" यु मिश्रणामिश्रणयोः। यु+डोस्** (उणा० २।६८), बाहुलकात्। "शंयोः" की पुनरावृत्ति रागद्वेषादि के सर्वथा शमन करने को सूचित करती है।]

—:०:—

मनुस्मृति में प्रत्येक गृहस्थ के लिये दैनिक पञ्चमहायज्ञों का विधान किया है। यथा—

६६. ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ मनु० ४।२१॥

ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ और पितृयज्ञ को सदा करे। शक्ति रहते इन का परित्याग न करे।

६७. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ मनु० ३।७०॥

अध्ययन करना तथा पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है, माता-पिता-आचार्य को सेवा-

शुश्रूषा आदि द्वारा प्रसन्न रखना पितृयज्ञ है, होम अर्थात् अग्निहोत्र करना देवयज्ञ है, अपने दैनिक खानपान के समय अन्य प्राणियों के निमित्त अन्न का विभाग कर उन्हें देना भूतयज्ञ है, तथा अतिथियों का सत्कार और उन्हें भोजन श्रद्धापूर्वक देना नृयज्ञ है।

६८. स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ मनु० ३।८१॥

स्वाध्याय अर्थात् उत्तम साहित्य=वेद-तथा-आर्षग्रन्थों के अध्ययन और मनन द्वारा ऋषियों का सत्कार करे, अर्थात् जिन्होंने वेदार्थों पर विचार कर तथा वेदादि की परम्परा प्रचार द्वारा स्थिर बनाई है,उन के प्रति,उनके द्वारा प्रचारित साहित्य के अध्ययन द्वारा श्रद्धा और कृतज्ञता प्रकट करना स्वाध्याययज्ञ है। विधिपूर्वक होम अर्थात् अग्निहोत्र द्वारा देवों की अर्चना करे, अर्थात् भगवान् का स्मरण तथा वायु-जल की शुद्धि करे। श्रद्धापूर्वक सेवा-शुश्रूषा आदि द्वारा पितरों अर्थात् माता-पिता-आचार्य की अर्चना अर्थात् सेवा करे। श्रद्धापूर्वक अन्न-प्रदान द्वारा अतिथि की सेवा करे। तथा अन्न की बलिप्रदान द्वारा अन्य प्राणियों को सेवा करे।

[योग की दृष्टि से "स्वाध्याय" क्रियायोग का अङ्ग है। यथा "तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः" (योग २।१) । योग में स्वाध्याय का फल दर्शाया है—'इष्टदेवता-सम्प्रयोग"। यथा—"स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः" (योग २।४४)। इष्टदेवतासम्प्रयोग का अभिप्राय है "अभीष्ट देवता के साथ सम्बन्ध। उदाहरणार्थ योगाभ्यासी अभीष्ट देवता=परमेश्वर के साथ सम्बन्ध और उस का साक्षात्कार चाहता है। इस निमित्त उसे वेदों और आर्षग्रन्थों के उन मन्त्रों तथा अंशों का सतत अध्ययन करना चाहिये, जिन में कि परमेश्वर के स्वरूप तथा उस की प्राप्ति के उपायों का वर्णन हो, और तदनुसार अनुष्ठान करके वह निज अभीष्ट देवता की ओर पग बढ़ा सके। इस के द्वारा कालान्तर में वह इष्टदेवता के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।]

—:०:—

६९. येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॒न्येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः।
गृ॒हानुप॑ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः। ३।४२॥

(प्रवसन्) प्रवास करता हुआ अतिथि (येषाम्) जिन गृहस्थों का (अध्येति) स्मरण करता है, और (येषु) जिन गृहस्थों में [अतिथियों के साथ] (बहुः) अधिक (सौमनसः) प्रेमभाव है, उन (गृहान्) गृहस्थों की, हम अतिथि लोग (उपह्वयामहे) नित्यप्रति प्रशंसा करते हैं। (ते) वे गृहस्थ लोग, (जानतः) ज्ञानी (नः) हम अतिथियों को, (जानन्तु) अतिथिरूप में यथावत जानें।

[मन्त्रार्थ महर्षि दयानन्द के भाष्यानुसार किया है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जो सद्गृहस्थ अतिथियों के साथ बहुत प्रेमभाव रखते हैं, और अतिथियों के वास्तविक स्वरूपों को जानते हैं, उन गृहस्थों के ही अन्न का ग्रहण अतिथि करें।]

७०. प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः।
करम्भेण सजोषसः ॥३।४४॥

(करम्भेण) दधिमिश्रित सत्तुओं के साथ (सजोषसः) प्रीति रखकर उनका सेवन करनेवाले, (प्रघासिनः) अन्नेच्छुक अतिथियों को, (च) तथा (रिशादसः) दोषों का क्षय अर्थात् विनाश करनेवाले (मरुतः) यज्ञ करानेवाले ऋत्विजों को, (हवामहे) हम गृहस्थी सत्कारपूर्वक बुलाते हैं, निमन्त्रित करते हैं।

[प्रघासिनः=प्र+घस् (अदने)। घसति भक्षयतीति घासिः (उणा० ४। १३१, म० दया०)। मरुतः ऋत्विङ्नाम (निघं० ३।१८)। करम्भेण=*flour or meal mixed with curds.* (आपटे)। अथवा करम्भ=करम् (हाथ को)+भ (भा दीप्तौ), अर्थात् जो अन्न हाथ को सुशोभित कर दे, अर्थात् जो अन्न हाथ लगे वा मिले, उसी के साथ प्रीति करनेवाले अतिथि। तथा "करम्भं तिर्यम् (तिल्यम् ?)" अर्थात् तिलमिश्रित करम्भ (अथर्व ४।७।३); "रसस्ते उग्र···आ ते करम्भमद्मसि (अथर्व० ६।१६।१) में "करम्भ" के अदन अर्थात् भक्षण का निर्देश है।]

—:०:—

७१. अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम ॥
११।७५॥

(इव) जैसे (तिष्ठते) अश्वशाला में स्थित हुए (अस्मै) इस (अश्वाय) घोड़े के लिये (अहः अहः) प्रतिदिन (अप्रयावम्) विना प्रमाद के (घासम्) घास आदि खानेयोग्य पदार्थ (भरन्तः) लाते हुए हम (मदन्तः) हर्ष प्राप्त करते हैं, वैसे (अग्ने) हे अग्निहोत्राग्नि! (प्रतिवेशाः) तेरे समीप रहनेवाले हम (ते) तेरे लिये हवियों को (भरन्तः) प्रतिदिन विना प्रमादालस्य के लाते हुए, (रायस्पोषेण) धन को पुष्टि, तथा (इषा) अन्न द्वारा (संमदन्तः) सम्यक् आनन्द प्राप्त करते हुए (मा रिषाम) नष्ट नहीं होते।

[प्रतिदिन नियमपूर्वक अग्निहोत्र करने से धन और अन्न की परिपुष्टि होती है। और स्वास्थ्य के ठीक होने पर शीघ्र मृत्यु नहीं होती, आयु बढ़ती है। भरन्तः=हरन्तः "हृग्रहोर्भः छन्दसि" (वार्तिक)। प्रतिवेशाः= *Nabours* (आपटे) अर्थात् समीपवर्ती। इषा=इषम् अन्ननाम (निघं० २।७)।]

७२. अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वाऽइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ॥
१५।२४॥

(धेनुम् इव) दूध देनेवाली गौ के समान उपकारिणी, (आयतीम्) आती हुई (उषासम्) उषा को (प्रति) लक्ष्य करके, (जनानाम्) यज्ञकर्त्ता मनुष्यों की (समिधा) समिधाओं द्वारा, (अग्निः) अग्निहोत्राग्नि (अबोधि) प्रकट हुई है, जब कि (भानवः) उषा की प्रभाएँ (नाकम् अच्छ) द्युलोकाभिमुख (प्र सिस्रते) प्रसरण करती हैं, फैलती हैं, (इव) जैसे कि मानो (यह्वाः) महावृक्ष (वयाम्) शाखासमूह को (प्र उज्जिहानाः) ऊपर की ओर फैंक रहे हैं।

[उषाकाल के समय अग्निहोत्र करने का विधान मन्त्र द्वारा किया गया है। उषाकाल स्वास्थ्य और परिपुष्टि के लिये उपकारी है, जैसे कि दुधार गौओं का दूध। नाकम्=नाकः आदित्यः, अथ द्यौः" (निरु० २।४।१४)। अच्छ=To, towards (आपटे)। यह्वाः=यह्वः=महन्नाम (निघं० ।३)। वयाः शाखाः (निरु. १।२।४)। मन्त्र में उषाकाल में अग्निहोत्र यज्ञ का विधान है, परन्तु अग्निहोत्र यज्ञ सायंकाल में भी वेदानुमोदित है। यथा—

"आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने"॥
ऋ० १०।११०।६॥

इस मन्त्र में "यजते" द्विवचन पद द्वारा उषा और नक्ता (रात्री) इन दोनों को यजन अर्थात् यज्ञ के साधक कहा है।]

—:o:—

७३. भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ ३।५॥

(देवयजनि) दिव्यगुणी विद्वान् जहां यज्ञ करते ऐसी, (पृथिवि) हे पृथिवि ! तू (भूम्ना) बहुतायत से (द्यौः इव) द्युलोक के समान, और (वरिम्णा) अच्छे गुणों से (पृथिवी इव) अन्तरिक्ष के समान है। (भूः भुवः स्वः) सत्–चित्–आनन्द परमेश्वर का ध्यान करके, (तस्याः) उक्त गुणों से युक्त जो तू है, उस (ते) तेरी (पृष्ठे) पीठ पर (भूः भुवः स्वः) भूमि-अन्तरिक्ष-द्युलोक में रहनेवाली, (अन्नादम्) तथा अन्नाहुतियों का भक्षण करनेवाली (अग्निम्) अग्नि को (आदधे) मैं स्थापित करता हूं, (अन्नाद्याय) भक्षणयोग्य अन्नों की प्राप्ति के लिये।

[भूः=सत्तायाम्=सत्; भुवः=अवकल्कने=चिन्तने=चित्; स्वः=सुख, आनन्द। तथा भूः=पृथिवी, भुवः=अन्तरिक्ष; स्व=द्युलोक। अग्नि इन तीनों लोकों में विद्यमान है। भूम्ना=द्युलोक में नक्षत्रों और तारागणों की बहुतायत है। पृथिवि में भी अन्नों, ओषधियों, वनस्पतियों, खनिज पदार्थों तथा प्राणियों की बहुतायत है। तथा अच्छे गुणों की दृष्टि से पृथिवी अन्तरिक्ष के समान हैं। पृथिवी=अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३), तथा प्रसिद्ध पृथिवी। पृथिवी =प्रथते विस्तीर्णा भवतीति, भूमिः अन्तरिक्षं वा (उणा० १।१२०) म० दया०। मन्त्र में दर्शाया है कि यज्ञों द्वारा स्वस्थ और परिपुष्ट अन्न प्राप्त होता। यथा—'अग्नौ प्रास्ताहुतिस्तावदादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः"।

७४. यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सोऽअष्टधा दिवमन्वाततान ।
स यज्ञ धुक्ष्व महि मे प्रजायां रायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा ॥८।६२॥

(यज्ञस्य) यज्ञ का (दोहः) दोह अर्थात् यज्ञिय-धूम्र (पुरुत्रा) बहुत

(विततः) फैला है, (सः) वह यज्ञिय धूम्र (अष्टधा) आठ दिशाओं में विभक्त होकर (दिवम् अनु) सूर्य के प्रकाश की ओर फैला है। (यज्ञ) हे यज्ञ! (सः) वह तू (मे) मेरी (प्रजायाम्) प्रजा में (महि) महती (रायस्पोषम्) सम्पत्-पुष्टि (धुक्ष्व) प्रदान कर, ताकि में (विश्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (अशीय) प्राप्त करूं, (स्वाहा) इसलिये मैं आहुतियां देता हूं।

[मन्त्र में सम्भवतः राजा का कथन है, जो कि बड़े-बड़े यज्ञ करता है, जिनका कि यज्ञिय धूम्र अन्तरिक्ष में आठों दिशाओं में फैलकर द्युलोक की ओर भी प्रयाण करता है। इस से प्रजाजनों में अन्नादि सम्पत्ति की परिपुष्टि होती है, और उन की दीर्घायु होती है। "पुरुत्रा" का अर्थ "बहुतों की, या बहुत रक्षा करनेवाला" भी हो सकता है। यज्ञ बहुतों की, तथा बहुत रक्षा करता है; पुरु+त्रा (त्रैङ् पालने+क्विप्)।]

७८. न तें दूरे पंरमा चिद् रजाᳬंस्या तु प्रयाहि हरिवो हरिभ्याम्। स्थिराय वृष्णे सवंना कृतेमा युक्ता ग्रावांणः समिधानेऽ अग्नौ॥ ३४।१९॥

(हरिवः) हे प्रशस्त घोड़ोंवाले राजन्! आप (हरिभ्याम्) दो घोड़ोंवाले रथ द्वारा (आ प्रयाहि) शीघ्र आइये। (ते) आप के लिये (तु) तो (परमा चिद्) दूरस्थ भी (रजांसि) स्थान (दूरे) दूर (न) नहीं हैं। (स्थिराय) स्थिररूप से (वृष्णे) वर्षा करनेवाले मेघ के लिये, (समिधाने) प्रदीप की गई (अग्नौ) अग्नि में (इमा सवना) ये सवन=यज्ञ (कृता) किये गए हैं, और परिणामरूप में (ग्रावाणः) गर्जते मेघ (युक्ताः) जुट गये हैं, इकट्ठे हो गए हैं।

[हरिः=शीघ्र हरण करनेवाला घोड़ा। म० दया० ने 'हरिभ्याम्' के दो अर्थ किये हैं—(१) घोड़े तथा (२) जल-और-अग्नि," जिन के संयोग से रथ शीघ्र चलते हैं। सवना=सवनानि। सवन का अर्थ है—"रस निकालना"। सोम आदि ओषधियों के रस निकालकर उन के द्वारा जो यज्ञ किये जाते हैं, उन्हें 'सवन-यज्ञ' कहते हैं। ये रस वर्षाकारी हैं। वर्तमान में भी रासायनिक पदार्थों के प्रयोग द्वारा कृत्रिम वर्षा के परीक्षण किये गए हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में "कारीरी" को वर्षाकर्म के लिये उपयोगी कहा है। यथा—"वर्षकामः कारीर्या यजेत"। ग्रावाणः=ग्रावा मेघनाम (निघं० १।१०)।]

७६. यस्यं कुर्मो गृहे हविस्तमग्ने वर्द्धया त्वम् ।
तस्मै देवाऽ अधि ब्रुवन्नयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥१७।५२॥

(यस्य) जिस के (गृहे) घर में (हविः) हविर्यज्ञ (कुर्मः) हम ऋत्विक् लोग करते हैं, (तम्) उसे (अग्ने) हे अग्नि! (त्वम्) तू (वर्द्धय) बढ़ा। (तस्मै) उस गृहपति के लिये (देवाः) दिव्यगुणी विद्वान् ऋत्विक् (अधि ब्रुवन्) अधिक उपदेश करें, (च) और (अयम्) यह (ब्रह्मणस्पतिः) वेदों का विद्वान् भी उपदेश करे।

[अग्ने=हे विद्वान् पुरोहित; (म० दया०); अथवा कवितारूप में अग्नि का सम्बोधन। ब्रह्मणस्पतिः=ब्रह्म=ब्रह्मप्रतिपादक वेद, उस का ज्ञाता विद्वान्। हविर्यज्ञों द्वारा कुल की वृद्धि होती है, स्वास्थ्य और आयु की वृद्धि तथा नीरोगता होती है।]

७७. पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीरपामतिं दुर्मतिं बाधमानाः ।
रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्ती रायस्पोषेऽअधि यज्ञोऽ अस्थात् ॥ १७।५४॥

(दैवीः) परमेश्वरदेव की (पञ्च दिशः) पांच या विस्तृत दिशाएँ (यज्ञम्) यज्ञोत्थ धूम को (अवन्तु) प्राप्त हों। (देवीः) ये दिशाएँ यज्ञिय धूम द्वारा दिव्यगुणों से युक्त हुई (अमतिम्) बुद्धिहीनता और (दुर्मतिम्) दुष्ट बुद्धि को (अपबाधमानाः) पृथक् करती हुई, (यज्ञपतिम्) यज्ञकर्ता यजमान को (रायस्पोषे) अन्नादि सम्पत्तियों के परिपोषण में (आ भजन्तीः) सब प्रकार से भागी बनाती हैं, क्योंकि (यज्ञः) यज्ञ (रायस्पोषे) अन्नादि सम्पत्तियों के परिपोषण का (अधि अस्थात्) अधिष्ठाता है।

[पञ्च=पांच या पचि विस्तारे; यथा—पञ्चास्य=शेर, अर्थात् बड़े चौड़े मुखवाला। अवन्तु=अव प्राप्तौ। अमतिम् दुर्मतिम्=यज्ञोत्थ धूमों से जब दिशाएँ व्याप्त हो जाती हैं, तब यज्ञिय धूमों में सूक्ष्मरूप में मिश्रित मेधाजनक तथा मेधावर्धक ओषधियां मस्तिष्क और मन को सात्विक करके, अज्ञान और दुर्मति का विनाश करती हैं।]

७८. स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा ।
स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा ॥१८।५०॥

(स्वः) सुख जैसे सुखस्वरूप है, (न) तत्सदृश (घर्मः) दिन सुखमय हो, (स्वाहा) एतदर्थ हम आहुतियां देते हैं। (स्वः) सुख जैसे सुखस्वरूप है, (नः) तत्सदृश (अर्कः) अन्न सुखमय हो, (स्वाहा) एतदर्थं हम आहुतियां देते हैं। (स्वः) सुख जैसे सुख-स्वरूप है, (न) तत्सदृश (शुक्रः) वायु या जल सुखमय हो, (स्वाहा) एतदर्थ हम आहुतियां देते हैं। (स्वः) सुख जैसे सुखस्वरूप है, (न) तत्सदृश (ज्योतिः) मेघस्थ विद्युत् सुखमय हो, (स्वाहा) एतदर्थ हम आहुतियां देते हैं। (स्वः) सुख जैसे सुखस्वरूप है, (न) तत्सदृश (सूर्यः) सूर्य सुखमय हो, (स्वाहा) एतदर्थ हम आहुतियां देते हैं।

[**घर्मः=अहर्नाम (निघं० १।९)। अर्कः=अन्ननाम** (निघं० २।७)। **शुक्रः= वायु (म० दया०); शुक्रम् उदकनाम (निघं० १।१२)। ज्योतिः=बिजुली की चमक (म० दया०)।** "यज्ञ के करनेवाले मनुष्य सुगन्धियुक्त आदि पदार्थों के होम से समस्त वायु आदि पदार्थों को शुद्ध कर सकते हैं, जिस से रोग क्षय होकर सब को बहुत आयुर्दा हो" (म० दया०)।]

७९. अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यꣳ सुपर्णं वयसा बृहन्तम्।
तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वो रुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम्॥
१८।५१॥

(वयसा) अन्न [की आहुतियों] द्वारा (बृहन्तम्) बढ़ी हुई, (दिव्यम्) दिव्यगुणों से सम्पन्न हुई, (सुपर्णम्) अतः अच्छे प्रकार पालन करनेवाली (अग्निम्) अग्नि को, (शवसा) बलदायक (घृतेन) घृताहुतियों द्वारा (युनज्मि) मैं युक्त करता हूँ। (तेन) उस से (स्वः) सांसारिक सुखों पर (रुहाणाः) आरूढ़ हुए (वयम्) हमलोग (ब्रध्नस्य) महाब्रह्म के (विष्टपम्) ताप-संताप से विगत, (उत्तमम्) सर्वश्रेष्ठ, (नाकम्) दुःखों से रहित आनन्दमय स्वरूप को (अधि गमेम) प्राप्त होवें।

[**शवसा=शवः बलनाम (निघं० २।९)। सुपर्णम्=सु+पृ पालने। वयसा =वयः अन्ननाम** (निघं० २।७)। **विष्टपम्=वि+स+तपम् (तपस्)। नाकम्='कम्' इति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत** (निरु०२।४।१४); **कम्, अकम्, न अकम्=नाकम्।** "जो मनुष्य अच्छे प्रकार बनाए हुए, सुगन्धि आदि से युक्त पदार्थों को आग में छोड़कर पवन आदि की शुद्धि से सब प्राणियों को सुख देते हैं, वे अत्यन्त सुख को प्राप्त होते हैं (म० दया०)।

अन्नाहुतियों तथा बलदायक घृत की आहुतियों द्वारा जीवन सुखमय हो जाते हैं। विष्टपम् = विश् + तुट् + कप् (उणा० ३।१४५) विशन्ति[1] यत्रेति विष्टपम्; भुवनं वा (म० दया०)। नाकम् = दुःखरहित सुखरूप स्थान[2], (म० दया०); अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप। ब्रध्न: = महन्नाम (निघं० ३।३)।]

८०. प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहा मनसे स्वाहा ॥२२।२३॥

(प्राणाय) प्राणवायु की शुद्धि के लिये (स्वाहा) तदुपयोगी आहुतियां हों। (अपानाय) अपानवायु की शुद्धि और स्वास्थ्य के लिये (स्वाहा) तदुपयोगी आहुतियां हों। (व्यानाय) विविध अङ्गों में व्याप्त वायु की शुद्धि और स्वास्थ्य के लिये (स्वाहा) तदुपयोगी आहुतियां हों। (चक्षुषे) दृष्टिशक्ति तथा आंखों के स्वास्थ्य के लिये (स्वाहा) तदुपयोगी आहुतियां हों। (श्रोत्राय) श्रवणशक्ति तथा कान के स्वास्थ्य के लिये (स्वाहा) तदुपयोगी आहुतियां हों। (वाचे) वाणी के स्वास्थ्य के लिये (स्वाहा) तदुपयोगी आहुतियां हों। (मनसे) मानसिक स्वास्थ्य के लिये (स्वाहा) तदुपयोगी आहुतियां हों।

["जो मनुष्य यज्ञ से शुद्ध किये जल, ओषधि, पवन, अन्न, पत्र, पुष्प, फल, रस, कन्द अर्थात् अरबी, आलू, कसेरु, रतालू और शकरकन्द आदि पदार्थों का भोजन करते हैं, वे नीरोग होकर बुद्धि, बल, आरोग्यपन और

---

(१) उणादिसूत्र में "विष्टपम्" का उपपादन "विश्" धातु द्वारा किया है। विश् का अर्थ होता है,—प्रवेश करना। मुक्तात्मा निज आत्मरूप से परमात्मा में प्रवेश करते हैं। प्रवेश करने पर भी मुक्तात्माओं के निज आत्मस्वरूप असत् नहीं हो जाते, अपितु निज आत्मस्वरूप से परमात्मा में स्वच्छन्द विचरते हैं। इस प्रवेश के सम्बन्ध में कहा है कि "**उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश**" (यजु० ३२।११) अर्थात् यथार्थज्ञान के प्रथमोत्पादक का उपस्थान करके योगी आत्मस्वरूप से परमात्मा में प्रवेश पाता है।

(२) यजुर्वेद के अन्य स्थलों में, जहां "**नाक**" शब्द आया है, वहां महर्षि ने "**दुःखरहित सुखविशेष**" तथा "**सब दुःखरहित मुक्तिसुख**" आदि अर्थ किये हैं। परन्तु मन्त्रक्रमांक ७९ में महर्षि ने अर्थ किया है—"**दुःखरहित सुखरूप स्थान**"। ऐसा स्थान केवल परमेश्वर ही सम्भव है।

आयुर्दावाले होते है" (म०दया०)। मन्त्र में "स्वाहा" पद द्वारा यज्ञियाग्नि में, तथा जठराग्नि में दी गई आहुतियां अभिप्रेत हैं।]

८१. येन॒ऽ ऋष॑य॒स्तप॑सा स॒त्रमा॒य॒न्निन्धा॑नाऽ अ॒ग्निँ स्व॑रा॒भर॑न्तः।
तस्मि॑न्न॒हं निद॑धे॒ नाके॑ऽ अ॒ग्निं यमा॒हुर्मन॑व स्ती॒र्णब॑र्हिषम् ॥
१८।४९॥

(येन) जिस परमेश्वर की आज्ञानुसार (अग्निम्) अग्नि को (इन्धानाः) प्रदीप्त करते हुए, और (स्वः आभरन्तः) सुख को धारण करते हुए, (ऋषयः) वेदार्थवेत्ता ऋषि लोग, (तपसा) तपश्चर्या द्वारा (सत्रम्) दीर्घकाल-साध्य यज्ञों को (आयन्) प्राप्त करते हैं, तथा (मनवः) मनन करनेवाले मनस्वी जन (यम्) जिस परमेश्वर के सम्बन्ध में (आहुः) कहते हैं कि वह (स्तीर्णबर्हिषम्) आकाश में विस्तीर्ण अर्थात् व्यापक है, (तस्मिन् नाके) उस दुःखरहित आनन्दस्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति के निमित्त (अहम्) मैं (अग्निम्, यज्ञिय-अग्नि को (निदधे) स्थापित करता हूं।

[सत्रम्=A secrificial session, especially one lasting from 13 to 100 days (आपटे), अर्थात् १३ दिनों से लेकर १०० दिनों तक किये जानेवाले यज्ञ। अध्यात्मोन्नति का इच्छुक सद्गृहस्थी, अग्निसाध्य यज्ञों को करता हुआ, परमेश्वर की प्राप्ति के निमित्त, अग्नि-साध्य यज्ञों और उन के फलों को परमेश्वरार्पण कर देता[1] है।

---

(१) यज्ञकर्मों के द्वारा भी सद्गृहस्थी परमेश्वर को प्राप्त कर सकता है, यदि परोपकार की भावना तथा परमेश्वरीय-प्रसाद की दृष्टि से यज्ञ किये जायें। अथर्व वेद के निम्नलिखित मन्त्र इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालते हैं।यथा—**"स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञोऽजायत; स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्"**॥ (१३।४।४। ३६,४०)। "अर्थात् निश्चय से वह परमेश्वर यज्ञकर्म द्वारा प्रकट होता है, क्योंकि यज्ञकर्म उसी परमेश्वर से प्रकट हुआ है। वह परमेश्वर यज्ञरूप है [क्योंकि यज्ञकर्म के द्वारा उसी का पूजन, उसी का संग, तथा यज्ञ और यज्ञफल उसी के अर्पण किया जाता है], यज्ञ उसी के निमित्त किया जाता है, वह यज्ञ का सिर है"। जैसे सिर के कट जाने से शारीरिक जीवन मिट जाता है, वैसे ही परमेश्वरार्पण किये विना यज्ञकर्म निष्फल होता है।

स्तीर्णबर्हिषम्=बर्हिः अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३); स्तीर्णः विस्तृतः बर्हिषि तम्। अथवा—"आकाश का आच्छादन करनेवाले परमेश्वर को"। इसके द्वारा परमेश्वर को आकाश से भी अधिक व्यापक दर्शाया है, सर्वव्यापक दर्शाया है। क्योंकि वह आकाश का भी आच्छादक है। इस दृष्टि से स्तीर्णबर्हिषम्=स्तीर्णम् आच्छादितं बर्हिः अन्तरिक्षम् येन तम्। स्तृञ् आच्छादने।]

—:०:—

८२. यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्।
एतत्तदग्नेऽअनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया।
सम्पृचः स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्त विपृचः स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्त॥
१९।११॥

(अग्ने) हे जगत् के अग्रणी! (यत्) जो (प्रमुदितः) अत्यन्त आनन्दयुक्त (पुत्रः) पुत्र (धयन्) दूध पीता हुआ (मातरम्) माता को (आपिपेष) सब प्रकार से पीड़ित करता है, (एतत्) इससे (तत्) उस पितृऋण से (अनृणः) ऋणरहित (भवामि) मैं होता हूँ। (मया) मेरे द्वारा (पितरौ) मातृ-पितृ-परम्परा (अहतौ) विच्छिन्न नहीं हुई, अथवा गृहस्थ-जीवन में मैने माता-पिता को कष्ट नहीं पहुंचाया। हे माता-पिता! तथा अन्य बुजुर्गों! आप (भद्रेण) कल्याण मार्ग में (सम्पृचः स्थ) लगे हुए हो, (मा) मुझे (भद्रेण) कल्याणमार्ग में (सं पृक्त) अच्छे प्रकार लगाइये। आप (पाप्मना विपृचः स्थ) पापमार्ग से पृथक् रहते हो, (मा) मुझे (पाप्मना) पापमार्ग से (वि पृङ्क्त) पृथक् कीजिये।

[ऋण तीन होते हैं— देवऋण, ऋषिऋण, तथा पितृऋण। यथा— ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्"। यज्ञों द्वारा देवऋण चुकाया जाता है, स्वाध्याय द्वारा ऋषि ऋण, तथा पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृऋण चुकाया जाता है। पितृऋण वंशपरम्परा के बनाए रखने के लिये होता है। मन्त्र में "पितरौ" द्वारा जीवित पितरों का ग्रहण स्पष्ट है।]

८३. नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय

नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॒ नमो॑ वः पितरः॒ पित॑रो॒ नमो॑ वो गृहान्नः पितरो दत्त स॒तो वः॑ पितरो॒ देष्मै॒तद्वः॑ पितरो॒ वास॒ऽआध॑त्त ॥ २।३२॥

(पितरः) हे माता-पिता आदि पितृवर्ग ! (रसाय) आप से विद्यारूपी आनन्दरस की प्राप्ति के लिये (वः) आप को (नमः) नमस्कार हो। (पितरः) हे पितृवर्ग ! (शोषाय) दुःखों के स्रोत के शोषण के लिये (वः) आप को (नमः) नमस्कार हो। (पितरः) हे पितृवर्ग ! (जीवाय) सुखी जीवन और आजीविका के लिये (वः) आप को (नमः) नमस्कार हो। (पितरः) हे पितृवर्ग ! (स्वधायै) अन्न और हमारे धारण-पोषण के लिये (वः) आप को (नमः) नमस्कार हो। (पितरः) हे पितृवर्ग ! (घोराय) दुःखदायी कर्मों से निवृत्ति की शिक्षा के लिये (वः) आप को (नमः) नमस्कार हो। (पितरः) हे पितृवर्ग ! (मन्यवे) दुष्ट जीवों के प्रति मनन-पूर्वक क्रोध के प्रशिक्षण के लिये (वः) आप को (नमः) नमस्कार हो। (नमः) नमस्कार हो (वः) आप को (पितरः) हे पितृवर्ग ! (पितरः) हे पितृवर्ग ! (नमः) बारं बार नमस्कार हो (वः) आप को। (पितरः) हे पितृवर्ग ! वनस्थ होते समय आप (न) हमें (गृहान्) गृहों के उत्तराधिकार (दत्त) प्रदान कीजिये। (पितरः) हे पितृवर्ग ! (सतः) विद्यमान अर्थात् जीवित रहते (वः) आप को (देष्म) हम जीवन-सामग्री देते रहेंगे। (पितरः) हे पितृवर्ग ! (वः) आप के लिये (एतत्) यह (वासः) वस्त्र है, (आधत्त) इसे स्वीकार कीजिये, या धारण कीजिये।

[मन्त्र-वर्णन जीवित पितरों ही पर चरितार्थ होता है, मृतों पर नहीं। महर्षिकृत मन्त्रार्थानुसारी अर्थ किया है।]

८४. आध॑त्त पितरो॒ गर्भं॑ कुमा॒रं पुष्क॑रस्रजम् ।
य॒थेह पुरु॒षोऽस॑त् ॥२।३३॥

(पितरः) विद्यादान द्वारा रक्षा करनेवाले आचार्यों ! (यथा) जैसे यह ब्रह्मचारी (इह) इस हमारे कुल में, (पुरुषः) शरीर और आत्मा के बल, तथा विद्या को प्राप्त कर पुरुषार्थी मनुष्य (असत्) हो, वैसे (गर्भम्) गर्भ के समान (पुष्करस्रजम्) विद्याग्रहण के लिये कमल के फूलों की माला धारण किये हुए (कुमारम्) इस ब्रह्मचारी को (आधत्त) स्वीकार कीजिये।

[कोई भी गृहस्थी अपने पुत्र को, विद्याग्रहण करने के लिये, मृत-आचार्य का ब्रह्मचारी नहीं बनाता। इस सम्बन्ध में कठोपनिषद् के मृत्यु-नचिकेता का उपाख्यान स्मरण करना चाहिये। उपनिषद् में आचार्य को यद्यपि "मृत्यु" नाम केद्वारा दर्शाया है। परन्तु "मृत्यु" पद जीवित आचार्य के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। यथा—"आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः" (अथर्व० ११।५।१४)। आचार्य जन्मजात संस्कारों का विनाश कर, नए संस्कारों द्वारा ब्रह्मचारी को 'द्विजन्मा' करता है, द्वितीय जन्म देता है। इस लिये आचार्य को 'मृत्यु' कहा है। मन्त्र में जीवित आचार्यों को "पितरः" कहा है।]

८५. ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥२।३४॥

हे पुत्रो! तुम (स्वधाः) अपने धारण-पोषण सम्बन्धी अन्नादि के धारण करनेवाले [स्थः] हो। अतः तुम (ऊर्ज्जम्) बल और प्राणशक्ति को (वहन्तीः [अपः]) प्राप्त करानेवाले जल, (अमृतम्) मृत्यु से बचानेवाले औषध, (घृतम्) घी, (पयः) दूध, (कीलालम्) उत्तम विधि से पकाया अन्न तथा अन्नरस, (परिस्रुतम्) रस से चूते हुए पके फल देकर, (मे पितॄन्) मेरे पितरों को (तर्पयत) तृप्त किया करो।

[स्वधाः=स्व+धा (धारण, पोषण); तथा—स्वधा अन्ननाम (निघं० २।७)। पिता अपने पुत्रों को कहता है कि तुम मेरे पिता आदि की सेवा यथावत् करते रहना।]

८६. अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाऽ अधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती।
योजान्विन्द्र ते हरी ॥३।५१॥

पितरों ने (अक्षन्) खाना खा लिया है, (अमीमदन्त) और आनन्दित हुए हैं। (हि) निश्चय से (प्रियाः) प्रिय पितरों ने (अव अधूषत) हमारे प्रमाद-आलस्य को कम्पा गिराया है। (स्वभानवः) निजज्ञानों द्वारा प्रकाशित (विप्राः) मेधावी पितरों ने (नविष्ठया) अत्यन्त नवीन (मत्या) मति देकर (अस्तोषत) हमारे कर्तव्यों का कथन किया

है। (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् ईश्वर ! (हरी) विषयों में हरण करनेवाली हमारी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को (योज) आप योगयुक्त कीजिये । (नु) निश्चय से ये इन्द्रियां (ते) अब आप की हो चुकी हैं।

[खाना, सदुपदेश देना जीवित पितरों का काम है, मृतों का नहीं।]

८७. पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः । पितरः शुन्धध्वम् ॥ १९।३६॥

(स्वधायिभ्यः) अन्न चाहनेवाले (पितृभ्यः) पितरों के लिये (स्वधा) अन्न और (नमः) नमस्कार हो । (स्वधायिभ्यः) अन्न चाहनेवाले (पितामहेभ्यः) पिता के पिताओं के लिये (स्वधा) अन्न और (नमः) नमस्कार हो। (स्वधायिभ्यः) अन्न चाहनेवाले (प्रपितामहेभ्यः) पितामह के पिताओं के लिये (स्वधा) अन्न और (नमः) नमस्कार हो। (अक्षन्) खाना खा लिया है (पितरः) पितरों ने, (अमीमदन्त) प्रसन्न और आनन्दयुक्त हुए हैं (पितरः) पितर। (अतीतृपन्त) तृप्त हुए हैं। (पितरः) पितर। (पितरः) हे पितरो ! (शुन्धध्वम्) निज उपदेशों द्वारा हमें शुद्ध कीजिये।

[पितरों, पितामहों, प्रपितामहों का वर्णन मन्त्र में हुआ है । पुत्र इन तीन पीढ़ियों के पितरों का अन्नादि द्वारा सत्कार करते हैं । इन से ऊपर की पीढ़ियों के पितरों का नहीं। कारण यह कि मनुष्य की औसतन आयु १०० वर्षों की वेदोक्त है। विवाहित पुत्र जब २५ वर्षों का हुआ, तब उस का पिता ५० वर्षों का, पितामह ७५ वर्षों का, तथा प्रपितामह १०० वर्षों का सम्भावित है। इससे ऊपर की आयुवाले पितरों का जीवित रहना अधिक सम्भावित नहीं। इस श्रद्धापूर्वक अन्नप्रदान और सत्कार के लिये जीवित पितर ही सम्भावित हैं। अगले मन्त्र में इसीलिये "शतायुः" का वर्णन हुआ है। मन्त्र में गृहस्थी लोगों के सन्तोष और प्रसन्नता का वर्णन है कि पितरों ने कृपापूर्वक हमारे दिये अन्नों को खा लिया है, और वे प्रसन्न और तृप्त प्रतीत होते हैं। पितरों की सेवा में प्रत्येक गृहस्थी को ऐसा ही सन्तोष और प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिये, यह उपदेश इस मन्त्र द्वारा मिलता है।]

८८. पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥१९।३७॥

(सोम्यासः) सौम्य स्वभाववाले तथा चन्द्रमा के तुल्य शान्त पितर, पितामह, तथा प्रपितामह (मा) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें। (पवित्रेण शतायुषा) जिस से मैं १०० वर्षों की पवित्र आयु के साथ सम्बद्ध होऊँ। पितामह, प्रपितामह पवित्र सौ वर्षों की आयु के साथ मुझे सम्बद्ध करें। जिस से १०० वर्षों को (विश्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (व्यश्नवै) मैं प्राप्त करूँ।

[पवित्र जीवन के विना सौ वर्षों की सुखमयी आयु को भोगा नहीं जा सकता। पुत्रों के पवित्र जीवन के लिए अनुभवी पितामह और प्रपितामह का अधिक कर्तव्य है, इसे दर्शाने के लिये इन का दो बार वर्णन हुआ है।]

८९. ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ।
तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतं समाः ॥१९।४६॥

(अस्मिन्) इस (लोके) लोक में (समानाः) माननीय, और (समनसः) मानसिक शक्तियों से सम्पन्न, (जीवेषु) जीवितों में (जीवाः) जीवित (ये मामकाः) जो मेरे पिता आदि हैं, (तेषाम्) उन की (श्रीः) लक्ष्मी-सम्पत्ति (मयि) मुझे प्राप्त हो। और (शतं समाः) मेरी सौ वर्षों की आयु पर्यन्त वह लक्ष्मी-सम्पत्ति (कल्पताम्) मुझे सामर्थ्ययुक्त करती रहे।

[मन्त्र में "जीवाः" शब्द जीवित पितरों का सूचक है। समानाः= स+मानाः=माननीयाः।]

९०. उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥१९।४९॥

(सोम्यासः) शान्त्यादि गुणसम्पन्न, (अवरे) अपेक्षया छोटी अवस्थावाले (पितरः) पितर (उदीरताम्) हमारे लिये ज्ञान-विज्ञान का कथन करें। (उत् मध्यमाः) और मध्यम अवस्थावाले पितामह-पितर हमें ज्ञान-विज्ञान का कथन करें। (उत् परासः) और उन से भी परे के प्रपितामह-

पितर हमें ज्ञान-विज्ञान का कथन करें । (ये) तथा जो अन्य (पितरः) पितर (असुम् ईयुः) प्राणों को प्राप्त अर्थात् जीवित हैं, और (अवृकाः) हिंसा पैशुन्य आदि दोषों से रहित, तथा (ऋतज्ञाः) यथार्थ वेत्ता हैं, (ते) वे (हवेषु) हमारे आह्वानों तथा निमन्त्रणों पर (नः) हमें (अवन्तु) प्राप्त हों, और हमारी रक्षा करें ।

[पितर ५ प्रकार के होते हैं - उत्पादक माता, पिता, ज्ञानदाता, अन्नदाता, तथा भय से रक्षा करनेवाले । ज्ञानदाता हैं -- आचार्य आदि; अन्न-दाता हैं – किसान आदि; भय से रक्षा करनेवाले हैं—राज्याधिकारी ।]

९१. अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाऽअथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषाँ वयँ सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ १९।५०॥

(नः) हमारे (पितरः) जो पितर (अङ्गिरसः) विद्याओं के नाना अङ्गों को जाननेवाले, (नवग्वाः) नवीन-नवीन ज्ञानों में गतियोंवाले, (अथर्वाणः) हिंसा से रहित तथा स्थिरचित्त योगी, (भृगवः) परिपक्व ज्ञानी, (सोम्यासः) तथा शान्त स्वभाववाले । (तेषां यज्ञियानाम्) उन पूज्यों तथा यज्ञियकर्म करनेवालों को (सुमतौ) सुमति में (वयम्) हम (स्याम) रहें । (अपि) तथा उनके द्वारा प्रदत्त (भद्रे) सुखदायक तथा कल्याण-कारक (सौमनसे) श्रेष्ठ बोध में (स्याम) हम वर्तमान रहें ।

[सौमनसे=सु+मन् (अवबोधने) +असुन् ।]

९२. उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
तऽआ गमन्तु तऽ इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥
१९।५७॥

(बर्हिष्येषु) पितृयज्ञ में देय (प्रियेषु निधिषु) प्रिय रत्नादि से भरे कोशों के ग्रहण करने के निमित्त, (सोम्यासः) ऐश्वर्यों के सत्पात्र (पितरः) पितर (उपहूताः) श्रद्धापूर्वक निमन्त्रित किये हैं । (ते) वे (आ गमन्तु) आवें, (ते) वे (इह) इस पितृयज्ञ में (श्रुवन्तु) हमारी प्रार्थनाओं को सुनें, (अधिब्रुवन्तु) और अधिकारपूर्वक हमें सदुपदेश दें, (ते) वे (अस्मान्) हमारी (अवन्तु) सन्मार्ग-प्रदर्शन द्वारा रक्षा करें ।

[बर्हिः=यज्ञ; secrifice (आपटे)। सोम=ऐश्वर्य, षू ऐश्वर्ये । सोम्यासः ="ऐश्वर्य को प्राप्त होने के योग्य" (म० दया०) ।]

९३. अग्निष्वात्ताः पितर ऽएह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवीꣳषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिꣳ सर्ववीरं दधातन ॥
१९।५९॥

हे (अग्निष्वात्ताः) अग्न्यादि पदार्थविद्याओं में निपुण ! तथा (सुप्रणीतयः) उत्तम प्रणयोंवाले या उत्तम मार्ग पर शीघ्र ले चलनेवाले (पितरः) पितरो!, (इह) इस पितृयज्ञ में (आ गच्छत) आप आइये। और (सदः-सदः) अपने-अपने योग्य स्थान पर (बर्हिषि) यज्ञ में या कुशासनों पर (आ-सदत) बैठिये। तथा (प्रयतानि) पवित्र सात्विक (हवींषि) हव्य-अन्नों का (अत्त) भक्षण कीजिये। (अथ) तदनन्तर (रयिम्) उपदेश-धन का (आ दधातन) हम में आधान कीजिये, (सर्ववीरम्) जिससे हमारी सब सन्तानें धर्मवीर हों।

[आना, आकर बैठना, अन्न खाना, तथा सदुपदेश देना, जीवित पितरों द्वारा ही सम्भव है, मृतों के द्वारा नहीं। सुप्रणीतयः=सु+प्रणीतिः (प्रणय, प्रेम), यथा—"प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः" (अथर्व० ७।११०।७), ब्रह्मचर्यसूक्त; तथा सु+प्र+नी (नये)+क्तिन्।]

९४. आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगृणीत विश्वे ।
मा हिꣳसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्वऽआगः पुरुषता कराम ॥
१९।६२॥

(पितरः) हे पितरो! (विश्वे) आप सब, (जानु आच्य) घुटने टेककर अर्थात् चौकड़ी लगाकर, (दक्षिणतः) यजमान के दाईं ओर (निषद्य) बैठकर, (इमम्) इस (यज्ञम् अभि गृणीत) इस यज्ञ को लक्ष्य करके सदुपदेश कीजिये। हे पितरो! (पुरुषता) पुरुषसुलभ अज्ञानता के कारण, (वः) आप के प्रति, (यत्) जो (आगः) सेवा-शुश्रूषा में अपराध (कराम) हमने किया हो, (केन चित्) उस किसी भी अपराध के कारण आप (नः) हमारी (हिंसिष्ट मा) हिंसा न कीजिये, हमें त्याग कर कष्ट न पहुँचाइये।

[दक्षिणतः=बुजुर्गों और पूज्यों को अपनी दाईं ओर बिठलाना चाहिये, नकि बाईं ओर।]

९५. आसीनासोऽअरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत तऽइहोर्जं दधात॥१९।६३॥

हे पितरो ! (अरुणीनाम्) रक्तवर्ण उषा की किरणों के (उपस्थे) उपस्थितिकाल में (आसीनासः) बैठे हुए आप (दाशुषे) धन द्वारा उपकारी (मर्त्याय) मनुष्य के लिये (रयिम्) धन (धत्त) दिया करो। तथा (तस्य) उस अपनी (वस्वः) सम्पत्ति के दाय भागों को (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये (प्र यच्छत) दिया करो। ताकि (ते) वे पुत्र (इह) इस गृहस्थ में (ऊर्जम्) अन्न, बल, प्राण (दधात) धारण कर सकें।

[सद्गृहस्थी प्रातःकाल सत्पात्रों को दान दिया करें, तथा अपने जीवित काल में ही पुत्रों के लिये अपनी सम्पत्ति के दायभाग निश्चित कर दिया करें। ऊर्जम्=ऊर्क् अन्नाम (निघं० २।७); तथा ऊर्जम्=Power, strength, life, breath (आपटे)। अरुणीनाम्="अरुण्यः गावः (किरणाः) उषाम्" (निघ० १।१५)। "अरुणीनामुपस्थे आसीनाः"=गौर वर्णयुक्त स्त्रियों के समीप में बैठे हुए (म० दया०); [ताकि धनविभाग में गृह्य स्त्रियां साक्षीभूत रहें] "अरुणो मासकृद् वृक" (ऋ० १।१०५।१८) की व्याख्या में निरुक्तकार ने अरुणः का अर्थ किया है—"आरोचनः", और "वृकः" का अर्थ किया है 'चन्द्रमाः"(निरु० ५।४।२१)। चन्द्रमा की रुचि अर्थात् दीप्ति गौरवर्णा होती है। इसलिये महर्षि दयानन्द ने अरुणीनाम् का अर्थ किया है "गौरवर्णयुक्त"। "वे ही वृद्ध हैं, जो सन्तानों के लिये यथायोग्य दायभाग और सत्पात्रों को सदा दान देते हैं" (भावार्थ—म० दयानन्द)। दान के लिये सत्पात्र के सम्बन्ध में मन्त्र में "दाशुषे" कहा है, अर्थात् सत्पात्र वे हैं, जोकि धन प्राप्त कर परोपकार करते हैं।]

—:o:—

९६. अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽ अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥
३३।६॥

(प्रथमः) पृथिवी में मुख्य शक्तिरूप, (होता) सुखदाता, (यजिष्ठः) यज्ञों का मुख्यसाधन, (अध्वरेषु) हिंसारहित यज्ञों में (ईड्यः) चाहने योग्य या प्रशंसनीय (अयम्) यह अग्नि, (धातृभिः) अग्न्याधान करनेवाले वानप्रस्थियों द्वारा (धायि) स्थापित किया है। (चित्रम्) आश्चर्यगुणोंवाली, (विश्वम्) विभूति-सम्पन्न (यम्) जिस अग्नि को कि (विशेविशे) प्रजाओं के उपकार के लिये (भृगवः) मानसिक तप करनेवाले (अप्नवानः) सुकर्मी

लोगों ने (इह) इन (वनेषु) वनों में (विरुरुचुः) विविध स्थानों में प्रदीप्त किया है।

[अप्नवानः=अप्नः कर्मनाम (निघं० २।१) + वनिप् अर्थात् यज्ञकर्मों में निष्ठावाले। भृगवः="भृगुः भृज्यमानः, न देहे" (निरु० ३।।१७), अर्थात् मानसिक तप करनेवाले संयमी, नकि दहिक तप करनेवाले। विशे-विशे= यज्ञों द्वारा वायुशुद्धि, पुष्टि तथा रोगनिवारण द्वारा प्रजाजनों का उपकार होता है। ईडि: अध्येषणाकर्मा (निरु० ७।४।१५)। अध्येषणा=अधीच्छा। (तथा देखो—मन्त्रक्रमसंख्या (१३४), वानप्रस्थ के लिये।]

९७. ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानाᳬं संवत्सरीणमुप भागमासते।
अहुतादो हविषो यज्ञेऽअस्मिन्त्स्वयं पिबन्तु मधुनो घृतस्य ॥
१७।१३॥

(देवानाम्) दिव्यगुणी विद्वानों में (देवाः) अधिक दिव्यगुणी विद्वान्, तथा (यज्ञियानाम्) यज्ञकर्मों में कुशल पुरुषों में (यज्ञियाः) योगाभ्यास आदि यज्ञ करने में अधिक कुशल (ये) जो उपासक (संवत्सरीणम्) वर्षभर (भागम्) भजनीय परमेश्वर की (उप आसते) उपासना में रत रहते हैं, (अहुतादः) और जो विना हवन किये हुए पदार्थ का भोजन करते हैं, वे (अस्मिन्) इस (यज्ञे) ध्यानयज्ञ में (स्वयम्) अपने आप (मधुनः) मधु, (घृतस्य) घृत, (हविषः) और हविष्य अन्न का (पिबन्तु) पान तथा सेवन किया करें, अर्थात् सात्विक अन्न, मधु, और घृत का सेवन किया करें।

[स्वयम्=अर्थात् इन हवि आदि की आहुतियां बाह्य अग्नि में न देकर आत्माग्नि में ही दिया करें। योगाभ्यासजन्य खुश्की के निवारण के लिये शुद्ध और ताजे घृत का पान करते रहना चाहिये, इस के लिये वैद्य के परामर्श की आवश्यकता नहीं। अहुतादः= ब्रह्मचर्य गृहस्थ तथा वनस्थ अवस्था में अग्निहोत्र का परित्याग नही होता। संन्यास में इस का परित्याग हो जाता है। "जो विद्वान् लोग इस संसार में अग्निक्रिया से रहित, अर्थात् आहवनीय गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि सम्बन्धी बाह्यकर्मों को को छोड़के, आभ्यन्तर अग्नि को धारण करनेवाले संन्यासी हैं, वे होम को न किये भोजन करते हुए, सर्वत्र विचरके सब मनुष्यों को वेदार्थ का उपदेश किया करें" (भावार्थ, म० दया०)।]

—:o:—

९८. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रोऽअजायत ॥३१।११॥

(अस्य) इस ईश्वर की सृष्टि में (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (मुखम्) मुख के तुल्य (आसीत्) है, (बाहू) भुजाओं के तुल्य (राजन्यः) क्षत्रिय (कृतः) किया गया है। (अस्य) इस की सृष्टि में (यत्) जो (ऊरू) जंघाओं के तुल्य है (तत्) वह (वैश्यः) वैश्य है। (पद्भ्याम्) पैरों से अर्थात् पैरों के तुल्य (शूद्रः) शूद्र (अजायत) उत्पन्न हुआ है।

[मन्त्र में ब्राह्मण आदि जातिकृत नहीं, अपितु गुण-कर्म-स्वभाव से हैं। ब्रह्म के उपासक, वेदों के ज्ञाता, त्यागी, तपस्वी तथा परोपकारी व्यक्ति 'ब्राह्मण' हैं। प्रजा का रञ्जन[1] करनेवाला, पितृवत् प्रजा का परिपालक 'राजन्य' अर्थात् 'क्षत्रिय' है। यथा "सोऽरज्यत[1] ततो राजन्योऽजायत" (अथर्व० १५[२]।८।१)। वैश्य वह है, जो कि व्यापार के निमित्त सर्वत्र प्रवेश करता है। तथा शूद्र वह है, जो "शु" अर्थात् शीघ्र "द्र" द्रवण अर्थात् कार्य के निमित्त गति कर सकता है, तथा जो समग्र समाज का आधारभूत है। क्योंकि शूद्र ही अपने शारीरिक परिश्रम द्वारा उत्पादन में सहायक होते हैं, जिन्हें कि Lab ures कहते हैं। प्रत्येक सामाजिक तथा राष्ट्रिय व्यवस्था में चार प्रकार से मनुष्य विभक्त होते हैं। शिक्षक, न्यायाधीश, समाज-सुधारक, नियमनिर्माता आदि ब्राह्मण कहे जा सकते हैं। शस्त्रास्त्रों द्वारा धर्मयुद्ध कर प्रजारक्षक क्षत्रिय हैं। कृषक तथा व्यापारी वैश्य हैं। तथा Laboures मजदूर और भृत्य आदि शूद्र हैं।

सामाजिक जीवन में ब्राह्मणों को मुखतुल्य, क्षत्रियों को बाहुतुल्य, वैश्यों को उदर तथा जंघाओं के तुल्य, तथा शूद्रों को पैरों के तुल्य माना है। मुख, बाहुएँ और इन के अन्तर्गत छाती, उदर और जंघाओं तथा पैरों के परस्पर मेल से शरीर बनता है। इन में से प्रत्येक अङ्ग शारीरिक जीवन के लिये आवश्यक है, और शरीर का प्रत्येक अंग शेष अङ्गों के जीवन के लिये उपकारी और सहायक है। इन अङ्गों मे से कोई अङ्ग घृणा के योग्य, अवाञ्छनीय तथा बहिष्कार के योग्य नहीं है। न ऊंच-नीच की

१. यथा "राजा प्रकृतिरञ्जनात्" (कालिदास)। अरज्यत = अथवा "वह राग-युक्त, अर्थात् स्नेहयुक्त हुआ प्रजा के प्रति, अर्थात् प्रजा का शासन रागपूर्वक स्नेह-पूर्वक करने लगा", इसलिये वह "राजन्य" हुआ।

दृष्टि से कोई अङ्ग हेय ही है। उपस्थ तथा गुदा तक के अंग भी, शारीरिक स्वास्थ्य और जीवन के लिये इतने ही उपकारी हैं, जितने कि मुखादि। इस मन्त्र द्वारा सामाजिक जीवन का आदर्श उपस्थित किया है। इसके द्वारा सभी मनुष्यों में परस्पर सहानुभूति, परस्पर सेवा, पारस्परिक त्याग तथा उपकार, तथा सब के सुख में सुखानुभूति और दुःख में दुःखानुभूति का उपदेश दिया है। अतः वेदानुसार सामाजिक जीवन को "एक शारीरिक जीवन" समझ लेने पर, हरिजन-अहरिजन तथा स्पृश्यास्पृश्य का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।]

९९. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳ राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥१८।४८॥

हे परमेश्वर! जैसे (रुचा) आप की रुचि अर्थात् प्रेम सब के लिये है, तदनुसार (नः) हमारे (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मणों में (रुचम्) सब के प्रति प्रेम-भावना (धेहि) स्थापित कीजिये। (नः) हमारे (राजसु) राज्य करनेवाले क्षत्रियों में (रुचम्) प्रेम-भावना (कृधि) स्थापित कीजिये। (विश्येषु) वैश्यों में और (शूद्रेषु)शूद्रों में (रुचम्)सब के प्रति प्रेम-भावना स्थापित कीजिये। और(मयि)हम प्रत्येक व्यक्तियों में (रुचम्) सब के प्रति प्रेम-भावना (धेहि) स्थापित कीजिये।

[रुचिम्=रोचकता, अर्थात् सब के प्रति रोचक अर्थात् रुचिकर बन सकने के लिये प्रेम-भावना। रुचिः=Liking or Love (आपटे)। "जैसे परमेश्वर पक्षपात को छोड़ ब्राह्मण आदि वर्णों में समान प्रीति करता है, वैसे ही विद्वान् लोग भी समान प्रीति करें। जो ईश्वर के गुण-कर्म और स्वभाव से विरुद्ध वर्तमान हैं, वे सब नीच और तिरस्कार करने योग्य होते हैं" (म० दया०, भावार्थ)।]

१००. इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामेऽअस्मिन्ननातुरम् ॥
१६।४८॥

(तवसे) बलशाली, (कपर्दिने) जटाधारी, (क्षयद्वीराय) शत्रुवीरों के क्षयकारी, तथा अपने वीरों को वसानेवाले, (रुद्राय) शत्रुओं को रुलाने-

वाले सेनापति के लिये, (इमा: मतीः) इन अपने विचारों को (प्रभरामहे) हम भेंट देते हैं। (यथा) जिस प्रकार कि (अस्मिन् ग्रामे) इस हमारे ग्राम में (द्विपदे) दो पैरोंवाले सभी मनुष्यों के लिये, तथा (चतुष्पदे) सभी चौपाए पशुओं के लिये, (शम्) सुख और शान्ति (असद्) हो। और (विश्वम्) सब दोपाए तथा चौपाए (पुष्टम्) परिपुष्ट और (अनातुरम्) रोगों और कष्टों से रहित हो जायें।

[सामाजिक-जीवन के विचारों की भावना, ग्राम्य जीवन से ही प्रारम्भ हो जानी चाहिये। ग्राम के प्रत्येक निवासी में यह उग्रभावना होनी चाहिये कि उस के ग्राम के सभी निवासी सुखशान्ति से सम्पन्न, परिपुष्ट, तथा रोगों, चिन्ताओं, कष्टों से रहित हों। इस भावना का विकास उत्तरोत्तर ग्रामों, कस्बों, जिलों तथा राष्ट्रव्यापी हो जाना चाहिये। **रुद्राय=रोदयतेर्वा** (निरु० १०।१।५)। कपर्दिने=युद्ध में सिर की रक्षा के लिये जटाओं तथा शिरस्त्राण की आवश्यकता होती है। मन्त्र में सैनिक राज्य का वर्णन प्रतीत होता है। **तवसे=तवस् या तव: बलनाम** (निघं० २।९)।]

१०१. नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥१६।३२॥

(ज्येष्ठाय च) आयु से वृद्ध के लिये, (कनिष्ठाय च) और आयु से छोटे के लिये (नमः) नमस्कार हो। (पूर्वजाय च) पहिले पैदा हुए बड़े भाई के लिये, तथा ब्राह्मण के लिये (अपरजाय च) और पीछे पैदा हुए छोटे भाई के लिये, तथा वर्णों की दृष्टि से नीचे के लिये (नमः) नमस्कार हों। (मध्यमाय च) वर्णों में मध्यम अर्थात् क्षत्रिय और वैश्य के लिये, तथा मध्यमकोटि के मनुष्य के लिये (अपगल्भाय च) और सरलस्वभाववाले के लिये (नमः) नमस्कार हो। (जघन्याय च) आर्थिक दृष्टि से नीचे के लिये, (बुध्न्याय च) और अन्तरिक्ष में हुए मेघ के तुल्य वर्तमान दाता के लिये (नमः) नमस्कार हो।

[सामाजिक जीवन में समाज के प्रत्येक व्यक्ति का सत्कार "नमस्ते" शब्द द्वारा करना चाहिये। इस से परस्पर प्रेम बढ़ता है। "परस्पर" मिलते समय सत्कार करना हो, तब "नमस्ते" इस वाक्य का उच्चारण कर के छोटे-बड़ों का, बड़े छोटों का, नीच उत्तमों का, उत्तम नीचों का और

क्षत्रियादि ब्राह्मणों का, ब्राह्मणादि क्षत्रियादिकों का निरन्तर सत्कार करें। सब लोग इसी वेदोक्त प्रमाण से सर्वत्र शिष्टाचार में इसी वाक्य का प्रयोग करके परस्पर एक-दूसरे का सत्कार करने से प्रसन्न होवें" (म० दया० भावार्थ)। बुध्न्यः=बुध्नमन्तरिक्षम्, तन्निवासात् (निरु० १०।४।४५)।]

१०२. मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य।
रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ।।३।३०।।

(अररुषः) अदानी, कंजूस (मर्त्यस्य) मनुष्य की (शंसः) अपकीर्ति, और (धूर्तिः) सामाजिक हिंसा (नः) हमें (मा) न (प्रणक्) प्रनष्ट करे। (ब्रह्मणस्पते) हे वेदों के स्वामिन् परमेश्वर! (नः) हमारी (आ रक्ष) पूर्णतया इस से रक्षा कीजिये।

[अदानी, स्वार्थी और परधन-लोलुप व्यक्ति समाज के शत्रु हैं। और ये सामाजिक भावनाओं के विनाश के द्वारा सामाजिक जीवन का विनाश कर अपकीर्ति के भाजन बनते हैं। इस हिंसा और अपकीर्ति से आत्मरक्षा की प्रार्थना वेदपति परमेश्वर से की गई है।]

१०३. शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ।।१६।४।।

(गिरिश) वेदवाणी में शयन अर्थात् निवास करनेवाले हे जगदीश्वर! (शिवेन) सब का कल्याण करनेवाले (वचसा) वैदिक वचनों द्वारा (त्वा अच्छ) आप के प्रति (वदामसि) हम प्रार्थनाएँ करते हैं, (यथा) जैसे कि "हे परमेश्वर! (नः) हमारा (सर्वम्) सब (इत्) ही (जगत्) जगत् (अयक्ष्मम्) यक्ष्मा आदि रोगों से रहित हो, और (सुमनाः) प्रसन्नचित्त (असत्) हो"।

[गिरिश=समग्र वेदवाणियों में जगदीश्वर साक्षात् तथा परम्परया वर्णित है। (नः) जगत् में निवास करनेवाला प्रत्येक मनुष्य, समग्र प्राणियों में आत्मभावना द्वारा उन्हें अपना समझ कर, उनके नीरोग तथा प्रसन्नमन होने की प्रार्थना जगदीश्वर से करे। इस भावना द्वारा समग्र जगत् में सुख और शान्ति का साम्राज्य हो सकता है। गिरिश=गीः वाङ्नाम (निघं १।११)+सप्तम्येकवचन+शीङ् (शयने)।]

१०४. पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः ।
जीवं व्रातँ सचेमहि ॥३.५५॥

(जनः) सर्वोत्पादक (दैव्यः) देवाधिदेव परमेश्वर (नः) हमें (मनः) बोध और मनोबल (ददातु) प्रदान करे। तथा (पितरः) माता-पिता-आचार्य-अतिथि हमें (पुनः) बार-बार बोध और मनोबल प्रदान करें, ताकि (व्रातम्) समग्र (जीवम्) जीवों की (सचेमहि) हम सेवा करें।

[जनः = जनः पुनातु नाभ्याम् (सन्ध्या-मन्त्र) में "जनः" का अर्थ है—जन्म-दाता परमेश्वर। सचेमहि = सेवा करें। यथा—सचता = आसचत, आ = सेवध्वम् (निरु० ६।३।२५)। व्रातम् = व्रातः flock, multitude, assemblage आपटे)।]

१०५. दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समी-
क्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ ३६।१८॥

(दृते) हे अविद्यारूपी अन्धकार के विनाशक जगदीश्वर! (मा) मुझे (दृंह) दृढ़ कीजिये, ताकि (अहम्) मैं (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की दृष्टि से (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियों को (समीक्षे) देखूँ, और (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (मा) मुझे (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की दृष्टि से (समीक्षन्ताम्) देखें। इस प्रकार (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की दृष्टि से (समीक्षामहे) परस्पर एक-दूसरे को हम देखें।

(मन्त्र में सर्वभूतमैत्री की सर्वोच्च-भावना का वर्णन है। इस मैत्री-भावना में उच्च-नीच का ख्याल नहीं। दृते = दृ विदारणे (हिंसायाम्)। "वे ही महात्मा जन हैं, जो अपने आत्मा के सदृश सम्पूर्ण प्राणियों को मानें, किसी से कभी द्वेष न करें, और मित्र के सदृश सब का सदा सत्कार करें" प्रथम स्वयं (भावार्थ, म० दया०)। सर्वभूतमैत्री के लिये व्यक्ति को चाहिये कि वह सब को मित्र की दृष्टि से देखा करे। इस की प्रतिक्रिया यह होगी कि अन्य सब भी उस के साथ मैत्री करने लगेंगे। इस प्रकार पारस्परिक मैत्रीभावना का विस्तार होगा।]

—:०:—

१०६. क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि ।
मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः ॥२०।१॥

हे सभापते राजन् ! (क्षत्रस्य) राज्य का (योनिः) निमित्त (असि) तू है। (क्षत्रस्य) राजकुल अर्थात् शासकवर्ग का (नाभिः) नाभि के समान जीवनहेतु (असि) तू है। (त्वा) प्रजावर्ग तेरी (मा हिंसीत्) हिंसा न करे, और तू (मा) मुझ प्रजावर्ग की (मा हिंसीः) हिंसा न कर।

[परस्पर ऐसी प्रतिज्ञा करें कि राजपुरुष प्रजापुरुषों की, और प्रजापुरुष राजपुरुषों की निरन्तर रक्षा करें, जिस से सब के सुख की उन्नति हो (म० दया० भावार्थ)।]

१०७. निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।
साम्राज्याय सुक्रतुः । मृत्योः पाहि विद्योत् पाहि ॥२०।२॥

(सुक्रतुः) उत्तम बुद्धि और उत्तम कर्मों से युक्त, (धृतव्रतः) प्रजा-रक्षा के व्रत का धारण कर्त्ता, (वरुणः) प्रजा द्वारा वरण किया गया श्रेष्ठ सभापति राजा, (साम्राज्याय) भूगोल में चक्रवर्ती और सम्यक् राज्य करने के लिये, (पस्त्यासु) न्यायगृहों में (आ नि ससाद) स्थित होता है। हे सभापति राजन् ! (मृत्योः) मृत्यु से प्रजाजनों की (पाहि) रक्षा कीजिये, तथा (विद्योत्)प्रकाशमान आग्नेयास्त्रादि से (पाहि) रक्षा कीजिये। अथवा—(विद्या=विद्यया) विद्याप्रसार द्वारा (उत्पाहि) प्रजाजनों की उत्कृष्ट रक्षा कीजिये।

[पस्त्यम्=गृहनाम (निघं०३।४) । साम्राज्य=संयुक्तराज्य (Federation), या सम्यक् राज्य । क्रतुः=प्रज्ञा (निघं० ३।९); कर्म (निघं० २।१) ।]

१०८. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभि षिञ्चामि । सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभि षिञ्चामि । इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभि षिञ्चामि ॥२०।३॥

(देवस्य) प्रकाशमान, तथा (सवितुः) सकल ऐश्वर्य के अधिष्ठाता जगदीश्वर के(प्रसवे) उत्पन्न किये जगत् में, (अश्विनोः) अश्वारोही तथा रथारोही सैनिकों के (बाहुभ्याम्) भुजबलों के साथ, और (पूष्णः) पोषण-

कारी पृथिवी के (हस्ताभ्याम्) हाथरूप भूमिपतियों और मजदूरों की कर्म-शक्तियों के साथ, (अश्विनोः[1]) सम्पूर्ण विद्याओं में व्याप्त अध्यापकों और उपदेशकों के (भैषज्येन) अविद्यारोगनिवारक विद्यारूपी औषध के साथ, (तेजसे) राज्य के ओज के लिये, (ब्रह्मवर्चसाय) तथा वेदविद्या के प्रसार के लिये, हे सभापति राजन्! (त्वा) तेरा (अभिषिञ्चामि) मैं प्रजा का प्रतिनिधि राज्याभिषेक करता हूँ। (सरस्वत्यै=सरस्वत्याः) सरस जलवाली नदियों के (भैषज्येन) अल्पान्नतारूपी-रोगनिवारक सरसजल के साथ, (वीर्याय) वीर्यशक्ति के लिये, तथा (अन्नाद्याय) भक्षणयोग्य अन्न की प्राप्ति के लिये, तेरा (अभिषिञ्चामि) मैं प्रजा का प्रतिनिधि, राज्याभिषेक करता हूँ। (इन्द्रस्य) ऐश्वर्योंवाले वैश्यजन के (इन्द्रियेण) ऐश्वर्य के साथ, (बलाय श्रियै यशसे) बल वृद्धि के लिये, सुशोभायुक्त राजलक्ष्मी के लिये, तथा पुण्य कीर्ति के लिये, (अभिषिञ्चामि) तेरा, मैं प्रजा का प्रतिनिधि राज्याभिषेक करता हूँ।

[मन्त्र में ४ विराम चिह्न हैं। प्रथम दो विरामचिह्नों में "अश्विनोः" दो बार पठित है। इसलिये इन के अर्थ भी भिन्न-भिन्न होने चाहियें। प्रथम पठित "अश्विनोः" में अश्विनौ का अर्थ किया है—अश्वोंवाले, अर्थात् घोड़ोंवाले। ऐसे सैनिक दो प्रकार के होते हैं—अश्वारोही तथा रथारोही। रथ-युद्धों में भी अश्वों की आवश्यकता होती है। देश के "तेजस्" को बनाए रखने के लिये अश्वारोहियों तथा रथारोहियों का होना आवश्यक है। प्रबल सैनिक-बल के साथ-साथ, राज्य के लिये अन्नविभूति भी अवश्य चाहिये। अन्नविभूति के विना राज्य का "तेजस्" चमक नहीं सकता। अन्नविभूति के लिये "पूषा" की आवश्यकता होती है। **निघण्टु १।१ में कहा है कि —"पूषा पृथिवीनाम"**। विना पृथिवी के अन्नविभूति असम्भव है। और पृथिवी से अन्न की प्राप्ति के लिये दो प्रकार के हाथों की आवश्यकता होती है। वे हैं—भूमिपति तथा मजदूर। राज्य का तेजस् दो साधनों पर अवलम्बित होता है—सैनिक बल पर तथा अन्न की विभूति पर। दूसरे "अश्विनोः" में अश्वियों का काम बताया है—"ब्रह्मवर्चस" अर्थात् वेदविद्या का प्रसार। इस

---

१. अथवा—"**अश्विनौ देवानां भिषजौ**" के अनुसार "दिव्य कोटि के वैद्यों की की चिकित्साओं के साथ"। इन से राष्ट्र का ओजस् बढ़ता है। और अध्यापकों तथा उपदेशकों द्वारा वेदविद्या का प्रसार होता है।

के लिये अध्यापकों और उपदेशकों की आवश्यकता होती है। इस अर्थ में अश्विनों का अर्थ होगा—"सम्पूर्ण विद्याओं में व्याप्त", (अशूङ् व्याप्तौ) अध्यापक और उपदेशक।

अन्नविभूति के लिये "पूष्णः हस्ताभ्याम्" के साथ-साथ पर्याप्त जल भी चाहिये, जिस से खेतों की सिंचाई हो सके। इस के लिये तीसरे विराम चिह्न में "सरस्वत्यै" शब्द द्वारा सरस्वती का कथन हुआ है। सरस्वती का अर्थ "उदकवाली नदी" भी होता है। यथा—"सरः उदकं विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती" (उणा० ४।१९०, म० दया०)। इस उदक फल दर्शाया है—"अन्नाद्य" अर्थात् भक्षणयोग्य अन्न की प्राप्ति, और प्रभूत अन्नाद्य के सेवन द्वारा वीर्यतत्व की प्राप्ति (वीर्याय)। सरस्वती का अर्थ "वाक्" भी होता है। यथा—"सरस्वती वाङ्नाम (निघं० १।११)। यहां "वाक्" द्वारा मेघीय गर्जना अभिप्रेत है, जोकि जल की वर्षा करती है। चतुर्थ विरामचिह्न में "इन्द्रस्य" द्वारा वणिक् अर्थात् वैश्य अभिप्रेत है। इन्द्र का अर्थ ऐश्वर्यसम्पादक वणिक् भी होता है। यथा "इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि" (अथर्व० ३।१५।१)। तथा "इन्द्रिय" का अर्थ है "ऐश्वर्य" अर्थात् धन। यथा—"इन्द्रियं धननाम" (निघं० २।१०)। इन्द्रिय का अर्थ धन इस लिये है, चूँकि धन इन्द्र अर्थात् वणिक् की शक्ति है, इन्द्र अर्थात् वणिक् द्वारा सम्पादित होता है। धन द्वारा राज्य के वल राजलक्ष्मी, तथा यश की वृद्धि होती है।

प्रजा का प्रतिनिधि सम्राट् को आश्वासन देता है कि तेरे साम्राज्य में सैनिक वल, कृषक तथा श्रमिकवर्ग, विद्याप्रसारक अध्यापक और उपदेशक, नदियां, तथा धनोपार्जक वंश्य विद्यमान हैं। इन के सहयोग द्वारा साम्राज्य के तेज, ब्रह्मवर्चस, अन्नाद्य, वीर्यशक्ति, बल, श्री, और यश को बढ़ाते रहना।]

१०९. दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। सर॑स्वत्यै वा॒चो य॒न्तुर्य॒न्त्रियें दधामि॒ बृह॒स्पते॑ष्ट्वा साम्रा॑ज्येना॒भि षि॑ञ्चाम्य॒सौ ॥९।३०॥

(देवस्य ... हस्ताभ्याम्) पूर्ववत् (२०।३)। (सरस्वत्यै) विज्ञानयुक्त (वाचः) वाणी अर्थात् शिक्षा के (यन्तुः) नियन्ता अर्थात् शिक्षासचिव के (यन्त्रिये) नियन्त्रण के निमित्त (दधामि असौ) वह मैं तुझे स्थापित करता हूँ। तथा (बृहस्पतेः) महाब्रह्माण्ड के रक्षक परमेश्वर के (साम्राज्येन) साम्राज्य के सदृश, पार्थिव साम्राज्य अर्थात् चक्रवर्ती राज्य

को दृष्टि से (त्वा) तुझे (अभिषिञ्चामि) मैं राज्याभिषिक्त करता हूँ, तेरा जलाभिषेक करता हूँ।

[सरस्वती=सरः विज्ञानं विद्यतऽस्यां सा (उणा० ४।१९०) म० दया०)।]

११०. इमं देवाऽअसपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ ९।४०॥

(देवाः) हे प्रजा के विद्वानो ! (इमम्) इस सम्राट् को, (अमुष्य-पुत्रम्) उस पिता के पुत्र, और (अमुष्यै पुत्रम्) उस माता के पुत्र (इमम्) इस सम्राट् को (महते क्षत्राय) क्षतों से महारक्षा के लिये, (महते ज्यैष्ठ-याय) महाप्रशस्त कार्यों के सम्पादन के लिये, (महते जानराज्याय) महा जनसमूह पर राज्य करने के लिये, (इन्द्रस्य) व्यापारियों की (इन्द्रियाय) धनसम्पत् की सुरक्षा, और उस पर नियन्त्रण के लिये, तथा (अस्यै विशे) इस समग्र प्रजा के सुख के लिये, (असपत्नम्) शत्रुरहित (सुवध्वम्) कीजिये। (अमी) हे प्रजाजनो ! (एषः) यह (सोमः) चन्द्रमा के समान प्रजा में प्रिय सम्राट् (वः) तुम सब का, तथा (अस्माकम् ब्राह्मणानाम्) हम वेद-वेत्ताओं और ब्रह्मवेत्ताओं का (राजा) राजा है।

[व्यक्ति के परिचय के लिये जहां पिता का निर्देश करना चाहिये, वहां साथ-साथ माता का भी निर्देश करना चाहिये। ऐसी वेदाज्ञा मन्त्र में सूचित की गई है। क्षत्राय=क्षतों से त्राण के लिये। "क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः" (रघुवंश)। ज्येष्ठ=प्रशस्य को "ज्य" आदेश तथा इष्ठन् प्रत्यय (ज्य च, अष्टा० ५।३।६१)। इन्द्रः=वणिक्, यथा—"इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि" (अथर्व० ३।१५।१)। इन्द्रियाय=इन्द्रियं धननाम (निघं० २।१०)। जानराज्याय, विशे=इन पदों द्वारा सम्भवतः जनपदवासियों तथा नगर-वासियों को सूचित किया है।]

१११. कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा। सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥२०।४॥

(सुश्लोक) हे उत्तम कीर्तिवाले ! (सुमङ्गल) प्रशस्त मङ्गलकारी कर्मों का अनुष्ठान करनेवाले ! (सत्यराजन्) सत्य और न्यायपूर्वक राज्य

करनेहारे सम्राट् ! (कस्मै) किस पद के लिये (त्वा) तुझे राज्याभिषिक्त किया है ? (काय) प्रजापति पद के लिये (त्वा) तुझे राज्याभिषिक्त किया है। (कः) प्रजापतिरूप (असि) तू है, (कतमः) सर्वश्रेष्ठ प्रजापतिरूप (असि) तू है।

[प्रजा का प्रतिनिधि, राज्याभिषिक्त सम्राट् के प्रति कहता है—"जानो, कि तू किस पद के लिये अभिषिक्त हुआ है ? साथ ही उसे कहता है कि तू प्रजापति पद के लिये अभिषिक्त हुआ है"। **"कः" का अर्थ है—प्रजापति, समग्र प्रजाओं, उत्पन्न पदार्थों का पति परमेश्वर। प्रजापति परमेश्वर "कः" है—करोतीति कः=जो कि समग्र ब्रह्माण्ड का कर्ता है।** तू ने प्रजापति के सदृश प्रजा का पालन करना है, इस लिये तुझे प्रजापति पद पर अभिषिक्त किया है। तू अब "कः" अर्थात् प्रजापति बन गया है, **"कतमः" सर्वश्रेष्ठ प्रजापति बन गया है। "स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे"** (अथर्व० ३।४।६) के अनुसार "उस परमेश्वर ने मानो अपनी गद्दी पर तुझे बुलाया है"—इसलिये हे सम्राट ! तू भी प्रजापति बन कर समग्र प्रजा का रक्षण तथा परिपालन कर। **"सः" द्वारा परमेश्वर का निर्देश किया है। "ओ३म्, तत्, सत्" इन पदों द्वारा ब्रह्म का निर्देश किया जाता हैं।** "सः" पद "तत्" का रूप है।]

११२. आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥१२।११॥

हे राजन् ! (त्वा) तुझे राजगद्दी पर (आहार्षम्) मैं लाया हूँ, (अन्तः अभूः) तू शासन का अन्तरङ्ग हो गया है। (अविचाचलिः) निज-कर्तव्यों से विचलित न हुआ तू (ध्रुवः) स्थिररूप में (तिष्ठ) राजगद्दी पर स्थित हो। ताकि (सर्वाः विशः) सब प्रजाएँ (त्वा) तुझे (वाञ्छन्तु) चाहती रहें। और (त्वत् अधि) तुझ से (राष्ट्रम्) राष्ट्र (मा) न (भ्रशत्) नष्टभ्रष्ट हो, न अधःपतित हो, न छीना जाय।

[ध्रुवः=वैदिक पद्धति के अनुसार, निर्वाचित राजा, अपनी दशमावस्था की आयुपर्यन्त भी ध्रुवरूप में राजा रह सकता है। यथा **"दशमीमुग्रः सुमना वशेह"** (३।४।७), अर्थात् हे राजन् ! तू उग्र होकर अपनी आयु की दसवीं अवस्था (९० से १०० वर्ष की (में भी प्रसन्नता से इस राजसिंहासन पर विराजमान हुआ, प्रजाजनों को अपने वश में रख। प्रजा का प्रतिनिधि मन्त्र द्वारा राजा को चेतावनी देता है। **भ्रशत्=भ्रंश् अधःपतने।**]

११३. शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि ।
राजा मे प्राणोऽअमृतꣳ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥२०।५॥

सम्राट् प्रतिज्ञा करता है कि (श्रीः) साम्राज्य की शोभा और सम्पत्ति (मे) मेरे लिये (शिरः) मेरा सिररूप है, (यशः) साम्राज्य का यश अर्थात् सत्कीर्ति (मुखम्) मेरे लिये मेरा मुखरूप है, (त्विषिः) साम्राज्य की प्रदीप्ति (केशाः च श्मश्रूणि) मेरे लिये मेरे केश और दाढ़ी-मूँछ हैं। (अमृतम्) अमर ब्रह्म (मे) मेरे लिये मेरा (प्राणः) प्राण है, जो ब्रह्म कि (राजा) मेरे साम्राज्य का वस्तुतः राजा है। (चक्षुः) मेरी आंख, जिस के द्वारा कि मैंने राजकार्य की देखभाल करनी है, मेरे लिये (सम्राट्) सम्राट् रूप है, (श्रोत्रम्) केवल कान से साम्राज्य के समाचारों को सुनना और आखों द्वारा उन की जांच न करना (विराट्) साम्राज्य का अभाव अर्थात् विनाशरूप है।

[सम्राट् साम्राज्य के भिन्न-भिन्न अंगों को, अपने शरीर के अङ्गरूप से जान कर, साम्राज्य के साथ अपने तादात्म्य की प्रतिज्ञा और घोषणा करता है।]

११४. जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः ।
मोदाः प्रमोदाऽअङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः ॥२०।६॥

(मे) मेरी (जिह्वा) जीभ (भद्रम्) सुखदायी और कल्याणकारी वस्तुओं का आस्वादन करनेवाली, अथवा सब के लिये सुखदायी और कल्याणकारी वचन बोलनेवाली है। (वाक्)मेरी वाणी अर्थात् वक्तृत्वशक्ति (महः) तेजस्विनी है। (मनः) मेरा मन (मन्युः) मननपूर्वक दुष्टाचारियों पर क्रोध करता है, (स्वराट्) निज जीवन पर मेरा-राज्य अर्थात् संयम (भामः) भासित अर्थात् सूर्यवत् प्रकट है। (अङ्गुलीः अङ्गानि) मेरे अङ्गुली आदि अङ्ग (मोदाः प्रमोदाः) सदा हर्ष-उत्साह तथा आनन्द के प्रतिरूप हैं, (सहः) सहनशक्ति (मे) मेरा (मित्रम्) मित्र है।

[मन्त्र में सम्राट् ने राज्यशासनोपयोगी निज सद्गुणों को प्रकट किया है। भामः=भाति प्रकाशतेऽसौ भामः=सूर्यः (उणा० १।१४०, म० दया०)।]

११५. बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म वीर्यम् ।
आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥२०।७॥

(बलम्) साम्राज्यबल तथा (इन्द्रियम्) साम्राज्य-कोश (मे) मेरी (बाहू) भुजारूप हैं, (कर्म) कर्म करना और (वीर्यम्) वीरता पराक्रम (मे) मेरे (हस्तौ) हाथरूप हैं, (मम) मेरी (आत्मा) आत्मा और (उरः) छाती अथवा हृदय (क्षत्रम्) क्षतों से सब का त्राण अर्थात् रक्षा करनेवाले हैं।

[साम्राज्य के तत्त्वों के साथ सम्राट् निज तादात्म्य का कथन करता है। इन्द्रियम् धननाम (निघं० २।१०), अर्थात् साम्राज्य का धन, कोष-सम्पत्।]

११६. पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी ।
ऊरूऽ अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः॥२०।८॥

(मे) मेरे (पृष्ठीः) पीठ के अवयव (राष्ट्रम्) मानो राष्ट्रभूमि है; (उदरम्) पेट (अंसौ) कन्धे (च) और (ग्रीवाः) गर्दन की नसनाडियां, (श्रोणी) कटी-प्रदेश, (ऊरू) जंघाएं, (अरत्नी) भुजाएँ और उन के मध्य का प्रदेश, (जानुनी) घुटने, तथा (सर्वतः) सब ओर के (मे) मेरे अन्य (अङ्गानि) अङ्ग (विशः) सर्वत्र फैले प्रजाजन हैं।

["जो अपने अङ्गों के तुल्य प्रजा को जाने, वही राजा सर्वदा बढ़ता रहता है" (म०दया० भावार्थ)। मन्त्र में "पृष्ठी का अभिप्राय है—पृष्ठवंश और सुषुम्णा नाडी। ये दोनों शरीर के अन्य अङ्गों के आधार तथा पोषक हैं। "राष्ट्रम्" का अभिप्राय है राजा द्वारा त्रात अर्थात् सुरक्षित प्रजावर्ग तथा भूप्रदेश। भूप्रदेश में भूमि, भूमिगत खनिज आदि पदार्थ, नदियां, पर्वत तथा अन्य अचल सम्पत्ति समाविष्ट हैं। इस अचल सम्पत्ति द्वारा चल अर्थात् मानुष तथा पशु प्रजा की सुरक्षा तथा परिपालन होता है।]

११७. प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु ।
प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे
प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे ॥२०।१०॥

(राष्ट्रे) राज्य में (प्रति तिष्ठामि) मैं दृढ़-स्थिति प्राप्त करता हूँ। (क्षत्रे) क्षत्रियवर्ग के आश्रय पर (प्रति०) दृढ़-स्थिति प्राप्त करता हूँ। (अश्वेषु)

अश्वों अर्थात् अश्वारोहियों तथा रथारोहियों के आश्रय पर (प्रति०) दृढ़-स्थिति प्राप्त करता हूँ। (गोषु) गोसमृद्धि के आश्रय (प्रति तिष्ठामि) दृढ़-स्थिति प्राप्त करता हूँ। (अङ्गेषु) राष्ट्र के अंगों के आश्रय (प्रति०) दृढ़-स्थिति प्राप्त करता हूँ। (आत्मन्) जगदात्मा के आश्रय (प्रति तिष्ठामि) मैं दृढ़-स्थिति प्राप्त करता हूँ। (प्राणेषु) प्राणप्रद अन्नों के आश्रय (प्रति०) मैं दृढ़-स्थिति प्राप्त करता हूँ। (पुष्टे) प्रजा की परिपुष्टि के आश्रय (प्रति तिष्ठामि) मैं दृढ़-स्थिति प्राप्त करता हूँ। (द्यावापृथिव्योः) द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य (प्रति०) मैं दृढ़-स्थिति प्राप्त करता हूँ। (यज्ञे) यज्ञिय-कर्मों तथा द्रव्ययज्ञों के आश्रय (प्रति तिष्ठामि) मैं दृढ़-स्थिति प्राप्त करता हूँ।

[सम्राट् ने उन पदार्थों का वर्णन किया है, जिन के होते राज्य में उस की दृढ़-स्थिति सम्भव है। इन पदार्थों की समुन्नति में प्रयत्नशील होने की ओर सम्राट् निर्देश करता है। प्राणेषु=अन्नं वै प्राणिनां प्राणः। अङ्गेषु= "सप्ताङ्गं राज्यम्", अर्थात् राज्य के ७ अङ्ग होते हैं। यथा—"स्वामी जनपदोऽमात्यः कोशो दुर्गबलं सुहृत्। राज्यं सप्त प्रकृत्यङ्गं नीतिज्ञाः प्रचक्षते"॥ तथा— "स्वाम्यमात्यसुहृत्कोश राष्ट्रदुर्गबलानि च राज्याङ्गानि" (अमरकोष)। अर्थात् स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोश, राष्ट्र (जनपद), दुर्ग (किले) तथा बल (चतुरङ्गिणी सेना, अर्थात् पदाति, अश्वारोही, रथारोही, हाथी—ये चार प्रकार की सेना) ये सात राज्याङ्ग हैं।]

११८. त्र॒या दे॒वाऽ एका॑दश त्रयस्त्रि॒ꣳशाः सु॒राध॑सः।
बृ॒हस्पति॑पुरोहिता दे॒वस्य॑ सवि॒तुः स॒वे। दे॒वा दे॒वैर॑वन्तु मा॥
२०।११॥

(त्रयस्त्रिंशाः) ३३ (देवाः) दिव्यगुणी विद्वान् (सुराधसः) राष्ट्र-कार्यों को सम्यक् प्रकार से सिद्ध करते हैं, जिन के कि (त्रयाः) तीन विभाग हैं, (एकादश) ग्यारह-ग्यारह के रूप में। (बृहस्पतिपुरोहिताः) ३२ देवों का बड़ा-अधिपति अर्थात् प्रधान मन्त्री इन सब का अग्रगामी है, अगुआ है, जो सब कि (सवितुः) सर्वप्रेरक (देवस्य) दिव्यगुणी विद्वान् की अर्थात् सम्राट् की (सवे) प्रेरणा अर्थात् आज्ञा में विद्यमान रहते हैं।] (देवाः) एक विभाग के ग्यारह-ग्यारह देव, (देवैः) शेष दो विभागों के ग्यारह-ग्यारह देवों के साथ मिल कर, (मा) मुझ सम्राट् की (अवन्तु) रक्षा करें।

[प्रकरणानुसार मन्त्र का राजनैतिक अर्थ किया है। मन्त्र में स्पष्ट है कि ३३ देवों के ३ विभाग हैं, और प्रत्येक विभाग के देव ग्यारह-ग्यारह हैं। ये ३३ देव राष्ट्रदेव हैं। ये सब मिल कर राष्ट्र के कार्यों को सम्यक् प्रकार से सिद्ध करते हैं। राष्ट्र-शासन के लिये तीन प्रकार की सभाएं वेदानुमोदित हैं। वे हैं—विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा, तथा राजार्यसभा। विद्यार्यसभा विद्या का प्रबन्ध करती है। धर्मार्यसभा न्यायविभाग की अधिष्ठात्री है, और राजार्यसभा शासन को नियन्त्रित करती है। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के षष्ठसमुल्लास में निम्न मन्त्र का निर्देश किया है। यथा—"त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि" ।। ऋ० ६।३८।३।। महर्षि इस का अर्थ करते हैं कि —"ईश्वर उपदेश करता है कि (राजाना) राजा और प्रजा के पुरुष मिलके (विदथे) सुखप्राप्ति और विज्ञानवृद्धि-कारक, राजा-प्रजा के सम्बन्धरूप व्यवहार में, (त्रीणि सदांसि) तीन सभा अर्थात् विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा, राजार्यसभा नियत करके, (पुरूणि) बहुत प्रकार के (विश्वानि) समग्र प्रजासम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को (परि भूषथः) सब ओर से विद्या, स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा, और धनादि से अलंकृत करें"। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदानुसार तीन सभाओं में से प्रत्येक सभा के ग्यारह-ग्यारह सभासद् होने चाहियें, जो कि सभी विद्वान् हों [विद्वांसो वै देवाः]। इस प्रकार ११×३=३३ देव परस्पर परामर्श द्वारा राष्ट्र की रक्षा करें। इन सब में परस्पर समन्वय करनेवाला प्रधान-मन्त्री इन से पृथक् हो, जिसे कि "बृहस्पति-पुरोहिताः" द्वारा निर्दिष्ट किया है। तथा इन सब का मुखिया सम्राट् हो।]

११९. रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु ।
ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षं यत-स्व सदस्यैः ।।७।४५।।

सम्राट् कहता है कि हे तीनों सभाओं के सभासदो! (वः) तुम्हारे (रूपेण) पृथक्-पृथक् विभागों की घटनाओं के निरूपणों द्वारा (रूपम्) उन-उन निरूपणों का (अभ्यागाम्) मैं ज्ञान प्राप्त करता रहूँ। (विश्ववेदाः) सब राजकार्यों को जाननेवाला, (तुथः) ज्ञानाग्नि-सम्पन्न प्रधानमन्त्री (वः) तुम लोगों को (वि भजतु) पृथक्-पृथक् अपने-अपने अधिकारों और कामों में नियत करे। (ऋतस्य) सत्य के (पथा) मार्ग से (प्रेत) चलो, अपने-अपने

कार्यों को करो। और (चन्द्रदक्षिणाः) सुवर्ण दक्षिणाएँ प्राप्त करो। हे प्रधानमन्त्रिन्! तू (स्वः) प्रतापी सूर्य को, अज्ञानान्धकार के हटाने के लिये, (वि पश्य) विशेषतया देख। और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष के समान सुख की वर्षा के लिये अन्तरिक्ष को (वि०) विशेषतया देख। तथा (सदस्यैः) सदस्यों के साथ मिलकर (यतस्व) शासनकार्य में यत्न कर।

[अथवा रूपम=रोचतेः (निरु० ३।३।१३) रुच्=दीप्ति, अभिप्रीति (भ्वा०)। राजा की दीप्ति अर्थात् प्रसिद्धि राजकर्मचारियों और प्रजा की प्रसिद्धि पर निर्भर करती है। राजकर्मचारी और प्रजा यदि राजा के साथ प्रीति करें, तो राजा भी उन के साथ प्रीति करता है। तुथः="तुत्थः अग्निः" (उणा० २।७)। चन्द्रम् हिरण्यनाम (निघं० १।२)। दक्षिणा=राष्ट्रशासन को राष्ट्रयज्ञ जानकर अधिकारी अपना कर्तव्यपालन करें। इसलिये उन के वेतनों को दक्षिणा कहा है। सदस्यैः=सदस्य A member of an assembly (आपटे)। सदस्य कई प्रकार के होते हैं। सदस्य=मन्त्रिगण (Ministers; यथा 'नमो मन्त्रिणे[1] वाणिजाय" (१६।१६) में व्यापार के मन्त्री का वर्णन है। राजपरिषद् के परिषद्य भी सदस्य हैं। राजपरिषद्[2] को वेद में "समिति" भी कहा है। यथा—"यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव"

---

१. सम्राट् उपमन्त्रियों को भी नियुक्त करे। यथा—"हसनामुपमन्त्रिणः" (सामवेद) इन का काम है प्रजा के विनोद के लिये नृत्य, गान, अभिनय, तथा खेल-कूद आदि का आयोजन करना। साम्राज्य चूंकि Federal संस्थान है, इस लिये भिन्न-भिन्न प्रान्तीय तथा प्रादेशिक राज्यों में, इस निमित्त, भिन्न-भिन्न उपमन्त्री होने चाहियें। इस लिये "उपमन्त्रिणः" में बहुवचन है। ऐसे कार्यों का आयोजन प्रजा के हास्य-विनोद के साथ-साथ शिक्षण भी है। इस के द्वारा अन्य उपविभागों के लिये भी उपमन्त्रियों की नियुक्तियों को सूचित किया है।

२. राजपरिषद् के सदस्यों को यजुर्वेद में "परिषद्य" कहा है। यथा—"परिषद्योऽसि पवमानः" (५।३२)। अर्थात् हे अमुक! तू परिषद्य अर्थात् परिषद् का सदस्य है। तेरा कर्तव्य है कि तू साम्राज्य को आचार-व्यवहार की दृष्टि से पवित्र कर। इसी मन्त्र में 'परिषद्योऽसि पवमानः" से अव्यवहित पूर्व पाठ है—"सम्राडसि कृशानुः" (यजु० ५।३२), अर्थात् हे सम्राट्! तू ने कृशानुरूप होना है। कृशानु का अर्थ है—अग्नि। अग्नि जिस प्रकार प्रकाश द्वारा अन्धकार को दूर करती, तथा मलादि का दहन करती है, इसी प्रकार तू भी विद्या के प्रकाश द्वारा प्रजा के अज्ञानान्धकार को दूर कर, और प्रजा की खराबियों को दग्ध कर। अथर्ववेद में भी

(यजु: १२।८०)। समिति के सदस्यों को वेद में "सामित्य" कहा है। यथा—"यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद" (अथर्व० ८।१०।११); "स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु" (अथर्व० १३।१।१३)। तथा विधान-संस्था को "सभा" कहा है। यथा—"सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने" (अथर्व० ७।१३।१); "नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च" (यजु: १६।२४)। सभा के सदस्यों को "सभ्य" कहा है, तथा सभाभवन में उपस्थित सदस्यों को "सभासद्" कहा है। यथा—"सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः" (अथर्व० १९।५५।५)। इन सब प्रकार के परिषद्यों, सामित्यों तथा सभ्यों को सदस्य कहते हैं। इन सब के सहयोग द्वारा सम्राट् राष्ट्रकार्यों में यत्न करता है। सदांसि और सदस्य परस्पर सम्बन्धी पद हैं।]

१२०. यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥२०।२५॥

(यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्रह्म) ब्रह्मोपासक वैदिक विद्वान् (च) और (क्षत्रम्) क्षतों से प्रजा का त्राण करनेवाले क्षत्रिय, (सम्यञ्चौ) अच्छे प्रकार परस्पर का मान करते हुए, (सह) परस्पर सहयोगपूर्वक (चरतः) विचरते हैं, तथा जिस राष्ट्र में (देवाः) दिव्यगुणी लोग (अग्निना सह) यज्ञाग्नि के साथ वर्तमान होते हैं, (तम्) उसे (पुण्यम् लोकम्) पुण्य लोक (प्रज्ञेषम्) मैं जानूं या जानता हूं।

[मन्त्र में ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों और क्षत्रियों के परस्पर सहयोग, तथा यज्ञों का विधान किया है। च, च समुच्चयार्थक हैं।]

१२१. यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते॥२०।२६॥

(यत्र) जिस राष्ट्र में (इन्द्रः) वाणिज्य करनेवाले वैश्य (च) और

परिषद् का वर्णन है। यथा—"उर्वी गव्यां परिषदं नो अक्रन्" (१८।३।२२)। "गव्यां परिषदम्" द्वारा गो अर्थात् पृथिवीव्याप्त साम्राज्य की परिषद् को सूचित किया है। यह परिषद् बड़ी होती है, इस लिये इस का विशेषण है—"उर्व्याम्" अर्थात् "महतीम्" पृथिवी-व्याप्त चक्रवर्तीराज्य की राजपरिषद् के सदस्य संख्या में अधिक अपेक्षित हैं, इसलिये इसे उर्वी कहा है। मनु ने दशावरा-परिषद् द्वारा परिषद् के परिषद्यों की न्यूनतम संख्या १० कही है। गव्याम्=गौः पृथिवीनाम (निघं० १।१)।

(वायुः च) वायु की तरह शीघ्र कर्मों के करनेवाले शूद्र (सम्यञ्चौ) अच्छे प्रकार परस्पर का मान करते हुए (सह) परस्पर सहयोगपूर्वक (चरतः) विचरते हैं, और इस कारण (यत्र) जिस राष्ट्र में (सेदिः) परस्पर झगड़ों के कारण विनाश (न विद्यते) नहीं होता, (तम्) उस राष्ट्र को (पुण्यम् लोकम्) पुण्यलोक (प्रज्ञेषम्) मैं जानूँ या जानता हूँ।

[इन्द्रः="इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि" (अथर्व० ३।१५।१) अर्थात् इन्द्र= वणिक्। वैश्यों और शूद्रों अर्थात् शीघ्र कार्यकर्ता मजदूरों (शूद्र=शु=आशु +द्र(द्रवण अर्थात् गति करनेवाले) में जहां परस्पर सहयोग और प्रेम से काम होता है, उस राष्ट्र का विनाश नहीं होने पाता। ऐसा राष्ट्र पुण्यलोक है।]

१२२. ये नः सपत्नाऽ अप ते भवन्त्विन्द्राग्नीभ्यामव बाधामहे तान्।
वसवो रुद्राऽ आदित्याऽ उपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन्॥
३४।४६॥

सम्राट् कहता है कि (ये) जो (नः) हमारे (सपत्नाः) शत्रु हैं, (ते) वे (अप भवन्तु) दूर हों, अर्थात् पराजय को प्राप्त हों। (तान्) उन्हें (इन्द्राग्नीभ्याम्) विद्युत् और अग्नि के शस्त्रों द्वारा (अव बाधामहे) हम पीड़ित करते हैं। (वसवः) वसु ब्रह्मचारी, (रुद्राः) रुद्र ब्रह्मचारी, तथा (आदित्याः) आदित्य ब्रह्मचारी, इन्होंने (मा) मुझे (उग्रम्) सामर्थ्य-शाली, और (चेतारम्) सत्यासत्य को यथार्थ जाननेवाला, तथा (उपरि स्पृशम्) उच्चासन पर बैठनेवाला, (अधिराजम्) राजाओं का भी राजा (अक्रन्) किया है।

[वसु आदि ब्रह्मचारियों ने मुझे सत्यज्ञान देकर मुझे सर्वोपरि राजा बनाया है, यह कथन सम्राट् का है। देखो—मन्त्र क्रमसंख्या (१६२)।]

१२३. क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सꣳरभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेये यतस्व।
सजातानां मध्यमस्थाऽ एधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह॥
२७।५॥

(अग्ने) हे अग्रनेता सम्राट्! (स्वायुः) उत्तम आयुवाले आप, (क्षत्रेण) धन-सम्पत् द्वारा (संरभस्व) अच्छे कार्यों को आरम्भ कीजिये। और (अग्ने) राष्ट्र को आगे-आगे ले चलनेवाले हे सम्राट्! (मित्रेण) मित्र राजा के द्वारा (मित्रधेये) अन्य राजाओं को मित्र बनाने में (यतस्व)

यत्न कीजिये। (अग्ने) तथा हे सर्वाग्रणी सम्राट्! आप (सजातानाम्) समान स्थिति के (राज्ञाम्) राजाओं के बीच (मध्यमस्थाः) उन के पारस्परिक वाद-विवादों में मध्यस्थ (एधि) हूजिये। तथा (विहव्यः) विशेष कर निमन्त्रित होने योग्य आप (दीदिहि) न्याय करने में प्रसिद्धि प्राप्त कीजिये।

[क्षत्रेण=क्षत्रम् धननाम (निघं० २।१०)।]

**१२४. देवेन नो मनसा देव सोम रायो भागꣳ सहसावन्नभि युध्य।
मा त्वा तनदीशिषे वीर्यस्योभयेभ्यः प्र चिकित्सा गविष्टौ॥
३४।२३॥**

(सहसावन्!) हे सेनादि बलवाले! (सोम) ऐश्वर्यों के प्रापक! (देव) दिव्यगुणों से युक्त सम्राट्! आप (देवेन) उत्तम गुण कर्म स्वभाव युक्त (मनसा) मन से (रायः) धन के (भागम्) अंश को (नः) हमारे लिये (अभि) सब ओर से (युध्य) प्राप्त कीजिये। आप (वीर्यस्य) वीरता के (ईशिषे) अधीश्वर हैं। (त्वा) आप को कोई (मा) न (आ तनत्) दबावे। (गविष्टौ) राष्ट्रयज्ञ के निमित्त आप (उभयेभ्यः) दोनों इस लोक और परलोक के सुखों के लिये (प्र चिकित्स) रोगनिवारण के तुल्य विघ्न-निवृत्ति के उपायों को किया कीजिये।

[**गविष्टौ=गो=भूमि, पृथिवी, (निघं० १।१)+इष्टि (यज्ञ)।** अर्थात् सम्राट् राष्ट्र को राष्ट्रयज्ञ जानकर धर्मभावना से राष्ट्र का शासन करे। और राष्ट्र के नियम ऐसे बनाए, जिस से इहलोक और परलोक दोनों सुखमय हो सकें। वर्तमान शासनों में परलोक का कोई ख्याल नहीं किया जाता।]

**१२५. अयꣳ सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्रऽइव पप्रथे।
सत्यः सोऽअस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥ ३३।८३**

(अयम्) यह सम्राट् (सहस्रम् ऋषिभिः) हजारों ऋषियों [के सहयोग तथा परामर्शों] द्वारा (सहस्कृतः) बलशाली किया जाता है। तब (अस्य) इस सम्राट् की (सः) वह (सत्यः महिमा) सत्य महिमा (समुद्र इव) समुद्र या अन्तरिक्ष के सदृश (पप्रथे) फैल जाती है। (विप्रराज्ये) मेधावी ऋषियों के राज्य में, (यज्ञेषु) यज्ञमयकर्मों तथा सत्संगों में, इस सम्राट् के (शवः) बल का (गृणे) मैं कथन करता हूँ।

[मन्त्र में ऋषिकोटि के मन्त्रियों तथा विधान-निर्माताओं के राज्य का वर्णन हुआ है। ऐसे राज्य में सम्राट् का चुनाव आदि ऋषियों तक ही सीमित रहता है। शेष पठित तथा अपठित, और सुकर्मियों तथा दुष्कर्मियों को सम्राट् के चुनाव में अधिकार नहीं होता। ऋषिजन आस्तिक, सात्विक प्रकृति के तथा स्वार्थरहित, परोपकारी होते हैं। इसलिये विप्रराज्य में भ्रष्टाचारिता तथा धनलोलुपता का सर्वथा अभाव होता है, और प्रजाजन सब प्रकार से सुखी होते हैं। जैसे गृहजीवनों में माता-पिता बच्चों का सदा भला चाहते हैं, और गृहजीवनों में बच्चों के वोटों के विना ही बच्चे सुखी रहते हैं, वैसे मेधावी ऋषि लोग, राष्ट्र को एक विशाल परिवार जानकर सभी प्रजाजनों को सुखी रखते हैं। ऋषिराज्य में "**ऋषिसीमित[1] प्रजातन्त्र शासन**" होता है, ऋषिराज्य में सब काम यज्ञमय होते हैं। इस में अयज्ञिय भावना से शासन नहीं होता। अतः इस राज्य की सदा प्रशंसा होती, और इस राज्य की प्रशंसा सर्वत्र फैल जाती है। **सहस्=बलनाम** (निघं० २।९)। **शवः=बलनाम** (निघं० २।९)। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति विप्रराज्य के ऐसे सम्राट् की बलशालिता का कथन तथा प्रशंसा करता है।]

१२६. इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्रऽ एतम्। तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥८।३७॥

(इन्द्रः च) इन्द्रपदवाच्य (सम्राट्) चक्रवर्ती, (च) और (वरुणः) वरुणपदवाच्य (राजा) माण्डलिक राजा, (तौ) वे दोनों (अग्रे) सर्व-प्रथम, हे राष्ट्रिय-उपज ! ते (तेरे) (एतम्) इस (भक्षम्) भोज्यान्न का (भक्षम्) भक्षण अर्थात् सेवन (चक्रतुः) करते हैं। (तयोः) उन दोनों के (अनु) पश्चात् (अहम्) मैं उपज का स्वामी (भक्षम्) भोज्यान्न का (भक्षयामि) भक्षण करता हूँ, सेवन करता हूँ। (सोमस्य) जगदुत्पादक परमेश्वर की (देवी वाक्) यह दिव्यवाणी (जुषाणा) प्रीतिपूर्वक सेवित की गई,

---

(१) ऋषिसीमित प्रजातन्त्र शासन को "ब्राह्मणसीमित प्रजातन्त्रशासन" भी कहा है। ब्राह्मण का अभिप्राय है—"ब्रह्मवेत्ता=वेदविद्वान्, नकि जन्मजात ब्राह्मण। यथा—**त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणाऽ इमे शिवोऽ अग्ने संवरणे भवा नः। सपत्नहा नोऽभिमातिजिच्च स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्॥** (२७।३) ब्राह्मणों द्वारा किये गए राज-निर्वाचन को मन्त्र में "संवरण" कहा है, अर्थात् सम्यक्-निर्वाचन"।

व्यवहार में लाई गई (तृप्यतु) सब को तृप्त करे। (प्राणेन) निज प्राणों (सह) समेत (स्वाहा) राज्यकर की आहुति मैं राष्ट्रयज्ञ में समर्पित करता हूं।

[इन्द्रः=परमैश्वर्यवान् सम्राट् (इदि परमैश्वर्ये)। वरुणः=श्रेष्ठ तथा चुना हुआ माण्डलिक राजा, "वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः" (उणा० ३।१३) जुषाणा=जुष (प्रीतिसेवनयोः)+शानच् (कर्मणि, छान्दसः)। तृप्यतु=अन्तर्भावितणिजर्थः, तर्पयतु। "वाग्देवी—तृप्यतु" अथवा "परमेश्वर की दिव्य वेदवाणी सब को सेवा करती हुई सदा तृप्त रहे, बनी रहे"। वेदवाणी यह सिखलाती है कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक राज्य-कर को राष्ट्रयज्ञ में आहुतिरूप में देकर तत्पश्चात् निजसम्पत्ति का भोग करे। स्वाहा=सु+आ+ओहाक् त्यागेः, सम्पर्ण करना।]

१२७. आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिषऽ एकवीरः शतꣳ सेना ऽ अजयत्साकमिन्द्रः ॥१७।३३॥

(आशुः) शीघ्रकारी अर्थात् आलस्यरहित, (शिशानः) तेज शस्त्रास्त्रोंवाला, (वृषभः न) बलवान् बैल के सदृश (भीमः) भयप्रद, (घनाघनः) घनघोर बादलों के समान शस्त्रास्त्रों को वर्षा करनेवाला, वा शत्रुओं का अतिहनन करनेवाला, (चर्षणीनाम्) शत्रु की प्रजाओं या सेनाओं को (क्षोभणः) कम्पानेवाला, (संक्रन्दनः) अच्छे प्रकार शत्रुओं को रुलानेवाला, (अनिमिषः) सदा सावधान, (एकवीरः) महावीर, (इन्द्रः) शत्रुओं को विदीर्ण करनेवाला सेनापति, (साकम्) एक साथ (शतं सेनाः) सैंकड़ों सेनाओं को (अजयत्) जीत लेता हैं।

१२८. संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नरऽ इषुहस्तेन वृष्णा॥
१७।३४॥

(युधः) हे युद्ध करनेहारे (नरः) सैनिक पुरुषो! तुम (संक्रन्दनेन) शत्रुओं को अति रुलानेवाले, (अनिमिषेण) सदा जागरूक सावधान, (जिष्णुना) विजयशील, (युत्कारेण) विविध प्रकार के सैनिक व्यूहों द्वारा अपने सैनिकों को परस्पर मिश्रित करने=मिलाने, और अमिश्रित=उन्हें पृथक्-पृथक् करनेवाले, (दुश्च्यवनेन) अपने स्थान से पीछे न हटनेवाले,

(धृष्णुना) दृढ़ उत्साही तथा शत्रुधर्षक, (इषुहस्तेन) हाथों में शस्त्रास्त्र लिये हुए, (वृष्णा) अस्त्रवर्षा करनेवाले (इन्द्रेण) शत्रुविदारक सेनापति के साथ, (तत्) उस शत्रुदल पर (जयत) विजय पाओ, और (तत्) युद्ध से हुए कष्टों को (सहध्वम्) सहन करो।

[युत्कारेण=युत् (यु मिश्रण तथा अमिश्रण)।]

१२९. अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकं सेनाऽ अवतु प्र युत्सु॥
१७।३९॥

(गोत्राणि) शत्रुओं के किलों को (सहसा) बल से (अभि गाहमानः) विलोड़ता हुआ, (अदयः) युद्ध में दया न करनेवाला, (वीरः) शूरवीर, (शतमन्युः) युद्ध में शतविध या शतगुणित क्रोध प्रदर्शन करनेवाला, (दुश्च्यवनः) कठिनाई से पीछे हटनेवाला, (पृतनाषाट्) शत्रु के आक्रमण को सहनेवाला, (अयुध्यः) जिसके साथ युद्ध न कर सकें, ऐसा (इन्द्रः) शत्रु-दल-विदारक सेनापति (युत्सु) जिन में शत्रु के साथ कभी अपनी सेना का मिश्रण और कभी अमिश्रण, अर्थात् कभी भिड़ना और कभी पीछे हट जाना होता है ऐसे युद्धों में (अस्माकम्) हमारी (सेनाः) सेनाओं की (प्र अवतु) प्रकृष्ट रक्षा करे।

[गोत्राणि=गो (पृथिवी) +त्र (त्राण करने के साधन=किले)।]

१३०. इन्द्रऽआसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुरऽ एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥
१७।४०॥

(अभिभञ्जतीनाम्) शत्रुओं के सेनाव्यूहों को तोड़ती हुई, और (जयन्तीनाम्) विजय प्राप्त करती हुई, (आसाम्) इन (देवसेनानाम्) विजिगीषु सैनिकों की सेनाओं का, (बृहस्पतिः) वड़ा-सेनाधिपति (दक्षिणा) सेनाओं के दाहिनी ओर (एतु) चले। (यज्ञः) शत्रुओं के साथ संग करनेवाला, भिड़नेवाला (पुरः) सेनाओं के (पुरः) आगे-आगे चले। (सोमः) सेनाओं को प्रेरणा अर्थात् उत्साह या आज्ञा देनेवाला बाईं ओर, तथा (इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली सेनाधीक्षक, जोकि (नेता) नायक है, वह सेनाओं के पीछे-पीछे चले। इस प्रकार (मरुतः) पवनों के समान वेगवाले शूरवीर (अग्रम्) आगे-आगे (यन्तु) बढ़ते जायें।

[यज्ञः=यज संगतिकरणे । सोमः=षू प्रेरणे । मरुतः= मानसून पवन । यथाः—"ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति" (अथर्व० ४।२७।५); तथा मरुतः= म्रियते मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः पवनो वा (उणा० १।९४)। "जब राजपुरुष शत्रुओं के साथ युद्ध किया चाहें, तब सब दिशाओं में अध्यक्षों, तथा शूरवीरों को आगे, और डरनेवालों को बीच में ठीक स्थापित करे" (म० दया० भावार्थ)। देवसेना=देव (दिवु विजिगीषा)+सेना।]

१३१. कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ२ऽ इभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥
१३।९॥

हे सेनापते ! तू (प्रसितिम्) जाल के (न) सदृश (पाजः) अपने सैनिक-बल को (कृणुष्व) प्रकट कर। और (अमवान्) अमात्योंवाले (राजा-इव) राजा के सदृश (इभेन) हाथी पर सवार होकर (पृथ्वीम्) शत्रूभूमि की ओर (याहि) जा। (प्रसितिमनु) तथा जाल फैलाने के पश्चात् (तृष्वीम्) शीघ्रता से (द्रूणानः) शत्रुओं की सेना की हिंसा करता हुआ, (रक्षसः) उन राक्षस स्वभाववालों को (तपिष्ठैः) अति संतप्त शस्त्रास्त्रों द्वारा (विध्य) बेंध डाल। (अस्ता असि) तू तो शस्त्रास्त्र फैंकने में कुशल है।

[पाजः=बलम् (निघं० २।७)। प्रसितिम्=प्र+सि (षिञ् बन्धने)+क्तिन्, प्रसितिः जालम् (निरु० ६।३।१२)।]

१३२. तव भ्रमास ऽआशुया पतन्त्यनु स्पृश धृषता शोशुचानः।
तपूंष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसन्दितो विसृज विष्वगुल्काः॥
१३।१०॥

हे सेनापते ! (भ्रमासः) जलीय-भंवरों के सदृश (तव) तेरे वायवीय-भंवर, (आशुया) शीघ्रता से, (पतन्ति) शत्रु के सैनिकों पर गिरते हैं, उन्हें घेर लेते हैं, (अनु) उन के पीछे-पीछे (स्पृशः) उन का स्पर्श करते हुए सैनिक उन पर (पतन्ति) गिरते हैं। (धृषता) तू धर्षण करनेवाले निज सैनिकदल द्वारा (शोशुचानः) खूब चमक। (जुह्वा) घृताहुति के चमस द्वारा चमकनेवाली (अग्ने) अग्नि के समान चमकनेवाले हे सेनापते ! (असन्दितः) शत्रुओं द्वारा न बन्धा हुआ तू (पतङ्गान्) पतङ्गों के सदृश

(तपूँषि उल्का:) प्रतप्त वैद्युत्-अस्त्रों को (विष्वक्) सर्वत्र शत्रुसेना पर (विसृज) फैंक।

[भ्रम:=An Eddy, a whirlpool (आपटे)। उल्का=ओषति दहति विद्युत्, अग्नेर्ज्वाला वा (उणा० ३।४२; म० दया०)। भ्रमास:=वायव्यास्त्रों द्वारा उत्पादित वायवीय-भंवर।]

१३३. प्रति स्पशो विसृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशोऽ अस्या अदब्धः। यो नो दूरेऽ अघशꣳसो योऽ अन्त्यग्ने माकिष्टे व्यथिरादधर्षीत् ॥१३।११॥

हे सेनापते ! तू (तूर्णितम:) अतिशीघ्रकारी होकर (प्रति) विजित देश के प्रति (स्पश:) गुप्तचरों को (विसृज) भेज। और (अदब्ध:) अहिंसित हुआ तू (अस्या:) इस विजित (विश:) प्रजा का (पायु:) रक्षक (भव) हो। (अग्ने) हे अग्नि के समान शत्रुओं को जलानेवाले सेनापते ! ऐसा प्रबन्ध कर कि (न:) हमारा और (ते) तुम्हारा (य:) जो (दूरे) दूर में, या (य: अन्ति) जो समीप में (व्यथि:) व्यथादायक, (अघशंस:) पापप्रशंसक पापी शत्रु है, वह (माकि:) किसी प्रकार भी न (आदधर्षीत्) धर्षण करे, हम पर आक्रमण न कर पाए।

[विजित देश में गुप्तचर शीघ्र भेज कर प्रजा को अभिलाषाओं को सेनापति जान कर, उस देश के प्रजाजनों की पूर्ण रक्षा करे। स्पश:=स्पश् क्विप् (कर्तरि) बहुवचन, द्वितीया विभक्ति, यथा—दिव: स्पश: प्र चरन्तीदमस्य" (अथर्व० ४।१६।४); "न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह चरन्ति" (अथर्व० १८।१।९)। स्पश:=गुप्तचर; A secret emixary (आपटे)।]

१३४. इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः। अहन् व्यꣳसमुशधग्वनेष्वाविर्धेनाऽ अकृणोद्राम्याणाम् ॥ ३३।२६॥

(शर्धनीति:) बल-प्रयोग की नीतिवाला सेनापति (वृत्रम्) धर्म के निरोधक पापी राजा को (अवृणोत्) घेरता है, उस के देश पर घेरा डालता है। और (वर्पणीति:) समय-समय पर अलग-अलग रूप धारण करने

की नीतिवाला सेनापति (मायिनाम्) दुष्ट बुद्धिवाले छली-कपटी आदि की (प्र अमिनात्) हिंसा करता है। (वनेषु) वनों में वनवासियों के पदार्थों की (उशधक्) चोरी से कामना करनेवालों को दग्ध करनेवाला सेनापति इन मायावियों को (व्यंसम्) भुजाओं से रहित कर (अहन्) मार डालता है। और वनों में (राम्याणाम्) रमण करनेवाले आनन्दप्रद वनवासी-शिक्षकों की (धेनाः) पठन-पाठन तथा सदुपदेशों की वाणियां (आविः-अकृणोत्) प्रकट करता है।

[वन्य-आश्रमों में रहनेवाले ब्रह्मचारियों की शिक्षा की विरोधिनी शक्तियों का विनाश कर, शिक्षाव्यवस्था को बनाए रखने का निर्देश मन्त्र में किया है। देखो—मन्त्र क्रमसंख्या (६६)। उशधक्=उषत् कान्तिकर्मा (निघं० २।६)+दह (भस्मीकरणे)।]

१३५. पि॒तुं नु स्तो॑षं म॒हो ध॒र्माणं॒ तवि॑षीम् ।
यस्य॑ त्रि॒तो व्योज॑सा वृ॒त्रं विप॑र्वम॒र्दय॑त् ॥३४।७॥

(पितुम्) अन्न की, (महः धर्माणम्) पक्षपातरहित न्यायाचरणरूप महा धर्म की, तथा (तविषीम्) बलवती सेना की (नु) वस्तुतः (स्तोषम्) मैं प्रशंसा करता हूँ, कि (यस्य) जिस के (ओजसा) ओज द्वारा सेनापति (वृत्रम्) धर्म-निरोधक पापी शत्रु को (विपर्वम्) अङ्गों से रहितकर (वि-अर्दयत्) विशेष कर नष्ट करता है। जैसे कि (त्रितः) तीनों कालों में विद्यमान सूर्य (वृत्रम्) आकाश को घेरे हुए मेघ को (विपर्वम्) छिन्नभिन्न कर (वि अर्दयत्) विनष्ट करता है।

("जिस ने सत्यधर्म, बलवती सेना, और पुष्कल अन्नादि सामग्री धारण की है, वह जैसे सूर्य मेघ को, वैसे शत्रुओं को जीत सकता है" (म०-दया०)। पितुः अन्ननाम (निघं० २।७) "पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा, पिबतेर्वा, प्यायतेर्वा (निरु० ६।३।२४) वृत्रम्=वृञ् आवरणे।]

१३६. अ॒मीषां॑ चि॒त्तं प्र॑तिलो॒भय॑न्ती गृहा॒णाङ्गा॒न्यप्वे॒ परे॑हि ।
अ॒भि प्रेहि॒ निर्द॑ह हृ॒त्सु शोकै॑र॒न्धेना॒मित्रा॒स्तम॑सा सचन्ताम् ॥
१७।४४॥

(अप्वे) हे अप्वानामक अस्त्र! तू (अमीषाम्) उन शत्रुसेनाओं की

(चित्तम्) चेतनता को (प्रतिलोभयन्ती) विमोहित अर्थात् ज्ञानशून्य करती हुई, उन के (अङ्गानि) अङ्गों को (गृहाण) जकड़ दे, (परेहि) परे अर्थात् दूर जा। (अभि प्रेहि) शत्रु के सम्मुख जा, (हृत्सु) हृदयों में (शोकैः) शोकों द्वारा (निर्दह) शत्रुओं को दग्ध कर। (अमित्राः) शत्रु (अन्धेन तमसा) अन्धा कर देनेवाले गाढ़ अन्धकार के साथ (सचन्ताम्) संयुक्त हो जायें।

[अप्वा = अप् (अप) + वा (गतौ)। प्रक्षेप्ता से (अपेत्य) हट कर (वाति, गच्छति) जो शत्रु की ओर जाता है, वह अस्त्र। यह अस्त्र शत्रुदल को अन्धा करनेवाले अन्धकार से घेर लेता है, जिस से उन के हाथ-पैर काम के लायक नहीं रहते, और सैनिक संज्ञारहित अचेत हो जाते हैं। लोभयन्ती = लुभ् विमोहने, विमोहनम् = वैचित्यम, विगतचैतन्यम्, विमूढ़ता।]

१३७. असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ऽ ओजसा स्पर्धमाना।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथामीऽ अन्योऽ अन्यन्न जानन् ॥
१७।४७॥

(मरुतः) हे मरने-मारनेवाले सैनिक पुरुषो ! (या) जो (असौ) वह (परेषाम्) शत्रुओं की (सेना) सेना (स्पर्धमाना) परस्पर में स्पर्धा करती हुई, (ओजसा) बल से अर्थात् वेग से (नः अभि) हमारी ओर (एति) आती है, (ताम्) उसे (अपव्रतेन) कर्मरहित करनेवाले (तमसा) तामसास्त्र द्वारा प्रयुक्त अन्धकार से (गूहत) ढांप दो, आच्छादित कर दो। (यथा) ताकि (अमी) ये शत्रुसेना के सैनिक, (अन्यः अन्यम्) एक-दूसरे को (न) न (जानन्) जानें।

[मरुतः = म्रियते मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः पवनो वा (उणा० १।९४, म० दया०)। मन्त्र में शत्रुसेना के आक्रमण से आत्मरक्षा के लिये युद्ध करने का विधान है। युद्धभूमि में भी पारस्परिक सैनिकहत्या न कर, तामसास्त्रों द्वारा शत्रु के सैन्यदल में गाढ़ अन्धकार फैला कर, शत्रु को किंकर्तव्यविमूढ़ कर देना चाहिये। युद्धस्थल में भी मानवता की भावना मन्त्र में अन्तर्निहित है। यह वेदोक्त भावना अति प्रशस्त है। अपव्रतेन = अप + व्रत (कर्म), व्रतम् कर्मनाम (निघं० २।१)।]

राज्य की व्यवस्था और प्रबन्ध के लिये अधिकारियों तथा कर्मचारियों आदि के सम्बन्ध में कतिपय निर्देश—

[१]

(क) इन्द्र अर्थात् सम्राट्=साम्राज्य का अधिपति। यह उत्तम प्रज्ञावान् तथा अकृष्ण अर्थात् निष्कलङ्क जीवनवाला होना चाहिये (यजुः २०।२; तथा २३।१३)।

(ख) वरुण अर्थात् राजा=राष्ट्र का अधिपति। यथा—"**इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा**" (यजुः ८।३०)।

(ग) ब्रह्मा अर्थात् प्रधानमन्त्री (यजुः २३।१३,१४)। यह चतुर्वेदविद् होना चाहिये।

(घ) **ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते** (यजुः ३०।५) अर्थात् वेदों के प्रचार तथा आस्तिकता के लिये वेदज्ञ तथा ब्रह्मज्ञ व्यक्ति।

(ङ) **क्षत्राय[1] राजन्यम्** (यजुः ३०।५) क्षतविक्षत से राष्ट्र के त्राण के लिये प्रजारञ्जक क्षत्रिय। यथा—"**सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत**" (अथर्व० १५।८।१), **अरज्यत=अरञ्जयत्**।

(च) **वैश्यम् मरुद्भ्यः** (यजुः ३०।५) वैश्याधिकारी को राजा प्राप्त करता है (आलभते), सुवर्ण आदि बहुमूल्य राजकोष की रक्षा के लिये। **मरुत् हिरण्यनाम** (निघं० १।२)।

(छ) **शूद्रम् तपसे** (यजु० ३०।५), शूद्रों अर्थात् मजदूर आदि के अधिकारी को प्राप्त करता है, शारीरिक परिश्रम के लिये।

(ज) **अयोगूम् आक्रयायै** (यजु० ३०।५), अयः अर्थात् लोहे आदि की खनिज[2] विद्या के जाननेवाले को प्राप्त करता है आकरक्रिया के लिये, खानों को खोदने[2] आदि के लिये। अयः=लोहे की कच्चीधातु। अयस्=अयर्=अइर्=अर्इ= ere। अन्य खनिज पदार्थ, यथा—"अश्मा (कीमती पत्थर), हिरण्यम्। **अयः श्यामम्**=स्टील, लोहम् (पक्का लोहा), सीसम् (सीसा), त्रपु (जस्ता, tin) (यजु० १८।१३)।

---

(१) क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः (कालिदास, रघुवंश २।५३)।

(२) धातुएं आग्नेय हैं, भूमिगर्भस्थ अत्युष्ण अग्नि और पार्थिव तत्वों के संयोग से धातुएं बनती हैं। और इन खनिज पदार्थों को भूमि खोद कर प्राप्त किया जाता है। यथा-"भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं (अग्निम्) वयम्" (यजु० ११।१६)।

(झ) वाणिज मन्त्री । "नमो मन्त्रिणे वाणिजाय" (१६।१९), अर्थात् वाणिज्य जाननेवाला मन्त्री । तथा "तुलायै वाणिजम्" (यजु० ३०।१७), नाप-तोल के निरीक्षण के लिये वणिक् (बणिया) को करता है ।

(ञ) "विभक्ता" अर्थात् राष्ट्र में अन्नादि-सम्पतियों का यथोचित विभाग करनेवाला अधिकारी । यथा—"विभाक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः" (यजु ३०।४) ।

(ट) ग्रामण्यम्, गणकम् को भी राजा प्राप्त करता है । ग्रामण्य=ग्रामणी, ग्राम का नेता । तथा गणक का अभिप्राय है—ग्राम के आय-व्यय के लेखे का निरीक्षक अधिकारी (यजु० ३०।२०) ।

(ठ) इसी प्रकार अन्य अधिकारियों को भी राजा नियुक्त करे । यथा "वनाय वनपम्" (यजु० ३०।१९) की रक्षा के लिये वनरक्षक को; तथा "वनानां पतये नमः (१६।१८) राज्य के समग्र वनों के लिये वनाधिपति को । अरण्याय दावपम्" (यजु० ३०।१९) अरण्य को आग से बचाने के लिये "दावप" को; दाव (दावाग्नि) + प (रक्षक) । "भद्राय गृहपम्" (यजु० ३०।११) सुख के लिये गृहरक्षक अधिकारी को (भद्रम्, भदि कल्याणे सुखे च) "श्रेयसे वित्तधम्" (यजु० ३०।११) कल्याण के लिये धन-निधियों के पोषक को । "हस्तिपम्" (३०।११) हाथियों के रक्षक को । "अश्वपम्, गोपालम्, अविपालम्, अजपालम्" (३०।११) अश्वों, गौओं, भेड़ों, बकरियों के पालक को । इरायै कीनाशम् (३०।११) अन्न के लिये किसान को राजा राज्य में प्राप्त करता है। "दार्वाहार, वासः पल्पूली, रजयित्री, अजिनसन्ध, चर्मम्न, हिरण्यकार, अयस्ताप, कर्मार, मणिकार, इषुकार, धनुष्कार, ज्याकार, रज्जुसर्ज, शुभे वपम्, रथकार, तक्षा, स्थपति, पशूनां पतिः, पथीनां पतिः, पुष्टानां पतिः, अन्नानां पतिः क्षेत्राणां पतिः, वृक्षाणां पतिः, ओषधीनां पतिः, भिषजम्, नक्षत्रदर्शम् (अध्याय ३० तथा १६), अर्थात् लक्कड़हारों, वस्त्र धोनेवालियों, वस्त्ररंगवानेवालियों, चमड़े को नर्म करने तथा उसे सीनेवालों, हिरण्य के आभूषण बनानेवालों, लोहे के तपानेवालों, लोहारों, मणियां बनाने वालों, तीर धनुष-धनुष् की डोरी बनानेवालों, रस्सी बटनेवालों नाइयों, रथ बनानेवालों, तरखानों, मकान बनानेवालों, पशुओं, सड़कों, पुष्ठि, अन्नों, क्षेत्रों, वृक्षों, ओषधियों के अध्यक्षों, वैश्यों, नक्षत्रविद्या के

जाननेवालों, तथा नानाविध अन्य शिल्पकारों का वर्णन यजुर्वेद के ३० वें और १६वें अध्यायों में किया गया है।

[२]

राष्ट्र में नाच-गान तथा उत्सवों में हर्ष-प्राप्ति के साधनों का भी वर्णन यजुर्वेद में हुआ है। यथा—"नृत्ताय सूतम्, गीताय शैलूषम्" (यजुः ३०।६), अर्थात् नाचने के लिये नाचने की प्रेरणा=शिक्षा देनेवाले को, गाने के लिये गानेहारे नट को राज्य में राजा प्राप्त करता है। "वीणावादं पाणिघ्नं तूणवध्मं नृत्तायानन्दाय तलवम्" (यजु: ३०।२०), वीणा बजानेवाले, हाथों से बाजा बजानेवाले, तूणव बाजे को बजानेवाले इन्हें, तथा आनन्द के लिये ताली बजानेवाले या तबला बजानेवाले को राज्य में राजा प्राप्त करे (तलवम्[1] में वर्णविपर्यय द्वारा, 'तवलम्, तबलम्" स्वरूप बनता है। "अन्तरिक्षाय वंशनर्त्तिनम्" (यजु: ३०।२१), बांस पर चढ़ कर अन्तरिक्ष में नाचनेवाले को; "आडम्बराघातम्, शङ्खध्मम्" (यजु: ३०।१६), डमरू या ढोल बजाने-वाले को, तथा शंख बजानेवाले को राजा राज्य में प्राप्त करे।

[३]

राष्ट्र को रक्षा के लिये प्रबल सैनिक शक्ति को भी आवश्यकता है। इस निमित्त "सेनापति-प्रकरण" विशेषरूप में द्रष्टव्य है। तथापि कतिपय निर्देश यहां भी किये जाते हैं। यथा—"नमः सेनाभ्यः सेनापतिभ्यश्च" (यजु: १६।२६), नानाविध सेनाओं और उन के सेनापतियों का अन्नादि द्वारा सत्कार करना चाहिये (नमः=नमस्कार, तथा अन्न (निघं० २।७), यथा—अश्वारोहियों, रथियों, हाथियों तथा पदातियों की नानाविध सेनाएँ, और इनके सेनापति। "नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये, दिशां च पतये नमः" (यजुः १६।१७), जिस के भुजाबल द्वारा शत्रु के सुवर्ण आदि पर विजय पाई जाती है, या जिस की शूरता के लिये राजा के द्वारा उसे भुजा पर धारण करने के लिये सुवर्ण का कड़ा दिया गया हो, ऐसे सेनानी का अन्नादि द्वारा सत्कार करना चाहिये, तथा राष्ट्र की दिशाओं अर्थात् सीमाओं की रक्षा के लिये सेनापति नियुक्त करने चाहियें, और उनका यथोचित सत्कार करना चाहिये। तथा "पत्तीनां पतये नमः" (यजुः १६।१६), "अश्वपतिभ्यश्च नम." (यजुः १६।२४), "नमो रथिभ्योऽरथेभ्यश्च वो नमः" (यजुः १६।२६),

---

१. करतल द्वारा बजाने योग्य।

'नमः शतधन्वने" (१६।१८), **"नमऽ आशुषेणाय चाशुरथाय"** (१६।३४), **"नमः कवचिने च वर्मिणे च", 'नमः श्रुतसेनाय"** (१६।३५), **"नमस्तीक्ष्णेषवे च"** (१६। ३६), **"नमोऽग्रेवधाय दूरेवधाय च"** (१६।४०), अर्थात पदातियों के अधिपति, अश्वों के अधिपतियों, रथियों, रथरहित पदातियों, सैंकड़ों प्रकार के आयुधोंवाले, शीघ्रगामिनी सेनावाले, शीघ्र चलनेवाले रथों के स्वामी, कवच और वर्म धारण करनेवाले, प्रख्यात सेनावाले, तीक्षण शस्त्रास्त्रोंवाले, सामने आए का वध करनेवाले, दूरस्थ शत्रुओं का वध करनेवाले – ऐसे तथा इस प्रकार के अन्य सेनापतियों तथा विशिष्ट योग्यताओं से सम्पन्न सैनिकों का सामाजिक भोजों द्वारा सत्कार करना चाहिये । तथा **"आस्कन्दाय सभास्थाणुम्"** (यजु० ३०।१८), शत्र पर आक्रमण करने के लिये युद्धसमिति के स्थिर सभापति को राजा नियुक्त करे ।

शिक्षा

"आशिक्षायै प्रश्निनम्," "उपशिक्षाया अभिप्रश्निनम्" (यजु० ३०।१०) राष्ट्र में आरम्भिक शिक्षा की उन्नति के लिये प्रश्नों द्वारा विद्यार्थियों की शिक्षा के परिज्ञान के निमित्त **"प्रश्नी"** अर्थात् इन्सपैक्टरों को नियुक्त करे । तथा माध्यमिक शिक्षा के लिये **"अभिप्रश्नी"** अर्थात् सब प्रकार के बहुत प्रश्नों को करनेवाले इन्सपैक्टरों को नियुक्त करे ।

न्याय-विभाग

"धर्माय[1] सभाचरम् (यजु० ३०।६), **"मर्यादायै प्रश्नविवाकम्"** (यजु० ३० १०), अर्थात् धर्म=राज्यनियमों की रक्षा के लिये न्यायसभा में विचारशील न्यायाधीश को; तथा न्याय-अन्याय की मर्यादा को स्थिर रखने के लिये, प्रश्नों द्वारा न्याय के निर्णय का कथन करनेवाले न्यायाधीश को नियुक्त करे । **प्राड्विवाक** = *A judge, the osesiding officer in a court of law* (आपटे), तथा (मनुस्मृति ८।७९, १८१, २३४) ।

१३८. अ॒स्मे वो॑ऽअस्त्वि॒न्द्रि॒यम॒स्मे नृ॒म्णमु॒त क्रतु॑र॒स्मे वर्चा॑ᳬसि सन्तु वः । नमो॑ मा॒त्रे पृ॑थि॒व्यै॑ नमो॑ मा॒त्रे पृ॑थि॒व्याऽ इ॒यं ते॒

---

(१) अथवा प्रजा का धारणकरनेवाले विधानों के निर्माण के लिये विधानसभा में विचारशील सभापति को नियुक्त करे ।

राड् यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥९।२२॥

(अस्मे) हमारी (इन्द्रियम्) मन आदि इन्द्रियां और आत्मिक बल (वः) तुम सब के लिये (अस्तु) हो। (अस्मे) हमारा (नृम्णम्) शारीरिक बल तथा धन-सम्पत्. (उत) और (क्रतुः) बुद्धि तथा कर्म, (अस्मे) हमारे (वर्चांसि) पढ़े-पढ़ाये ज्ञान-विज्ञान (वः) तुम सब के हित के लिये (सन्तु) हों। (पृथिव्ये मात्रे) पृथिवी माता के लिये (नमः) नमस्कार हो, (नमः) पृथिवी से उत्पन्न अन्न (पृथिव्यै मात्रे) पृथिवी माता के लिये अर्पित हो। हे राजन्! (इयम्) यह (राट्) राजशक्ति (ते) आप के लिये है। (यन्ता) आप राज्य को नियमों में चलानेवाले, (यमनः) स्वयं यम-नियमों में चलनेवाले, (ध्रुवः) दृढ़ निश्चयवाले, (धरुणः) तथा राष्ट्र का धारण करनेवाले (असि) हैं। (कृष्यै) कृषि के लिये (त्वा) आप को, (क्षेमाय) राष्ट्ररक्षा के लिये (त्वा) आप को, (रय्यै) राष्ट्र की सम्पत्ति के वर्धन के लिये (त्वा) आप को, (पोषाय) राष्ट्र के परिपोषण के लिये (त्वा) आप को प्रजा ने नियुक्त किया है।

[इन्द्रियम्=इन्द्रियां तथा इन्द्र (जीवात्मा) का आत्मिक बल। "इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्०" (अष्टा० ५।२।९३) पर "इन्द्रः आत्मा" (भट्टोजी दीक्षित)। नृम्णम्=बलनाम (निघं २।९); तथा धननाम (निघं० २।१०)। क्रतुः प्रज्ञानाम (निघं० ३।९); कर्मनाम (निघं० २।१)। नमः अन्ननाम (निघं० २।७)। मन्त्र में राष्ट्र के सभी निवासी, सब निवासियों की सेवा के लिये, अपनी-अपनी शक्तियों तथा सम्पत्तियों को समर्पित करने का वचन देते हैं। तथा पृथिवी से उत्पादित अन्नादि को पृथिवी माता को ही समर्पित करते हैं, ताकि पृथिवी माता की सब सन्तानों का धारण और पालन-पोषण हो सके। वैदिक मानवता का यह सर्वोच्च आदर्श है, तथा साम्यवाद की पराकाष्ठा है।]

१३९. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽ ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥२२।२२॥

(ब्रह्मन्) विद्यादि गुणों के कारण सब से बड़े हे परमेश्वर ! हमारे (राष्ट्रे) राज्य में (ब्रह्मवर्चसी) वेदविद्या से प्रकाश को प्राप्त, तथा (ब्राह्मणः) वेद और ईश्वर को जाननेवाले ब्राह्मण (आ जायताम्) सर्वत्र उत्पन्न हों। (शूरः) शूरवीर निर्भय, (इषव्यः) वाण चलाने में सकुशल, (अतिव्याधी) अतीव शत्रुओं को बींधनेवाले, (महारथः) बड़े-बड़े रथों और वीरोंवाले (राजन्यः) प्रजारञ्जक क्षत्रिय या राजपुत्र (आ जयताम्) उत्पन्न हों। (दोग्ध्री) दूध के द्वारा कामना पूर्ण करनेवाली (धेनुः) गौएं (वोढा) भार वहन में समर्थ (अनड्वान्) बलवान् बैल, (आशुः) शीघ्रगामी (सप्तिः) घोड़े, (पुरन्धिः) नाना व्यवहारों में कुशल महाबुद्धिमती (योषा) स्त्रियां, (जिष्णुः) शत्रुविजयी (रथेष्ठाः) रथ में स्थिर रह कर युद्ध करनेवाला, (सभेयः) सभा में उत्तम अर्थात् सभ्य व्यवहारोंवाला सभासद, (युवा) नवयुवक, (वीरः) वीर योद्धा, (अस्य) इस (यजमानस्य) राष्ट्रयज्ञ करनेवाला सम्राट् के (आ जायताम्) साम्राज्य में उत्पन्न हो। (नः) हमारी (निकामे निकामे) कामना-कामना पर (पर्जन्यः) मेघ (वर्षतु) वर्षा करे। (नः) हमारे लिये (ओषधयः) ओषधियां (फलवत्यः) उत्तम फलों से युक्त होकर (पच्यन्ताम्) पकें। (नः) हमारा (योगक्षेमः) योग अर्थात् अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति, तथा क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तुओं की रक्षा (कल्पताम्) सामर्थ्यवान् हो।

[ब्राह्मणः, राजन्यः, धेनुः, अनड्वान्, सप्तिः, योषा आदि में जात्येक-वचन है। "विद्वानों को ईश्वर की प्रार्थनासहित ऐसा अनुष्ठान करना चाहिये कि जिस से पूर्ण विद्यावाले, शूरवीर मनुष्य, तथा वैसे ही गुणवाली स्त्री, सुख देनेहारे पशु, सभ्य मनुष्य, चाही हुई वर्षा, मीठे फलों से युक्त अन्न और ओषधि हों, तथा हमारी कामना पूर्ण हो" (भावार्थ, महर्षि दयानन्द)।]

पशुयज्ञों पर सामान्य दृष्टि

यजुर्वेद में स्थान-स्थान पर पशुओं की रक्षा का वर्णन है। अहिंस्र पशुओं की हिंसा का वर्णन यजुर्वेद में कहीं उपलब्ध नहीं है। यथा—

१४०. यजमानस्य पशून् पाहि ॥१।१॥

अर्थात् हे गोपति[1], गोरक्षक भूपति राजन् ! तू यजमान अर्थात राष्ट्र यज्ञ के करने वाले प्रजाजन के पशुओं की रक्षा कर।

१४१. शंस्यं पशून् में पाहि ॥३।३७॥

हे प्रशंसनीय राजन् ! मुझ प्रजाजन के पशुओं को रक्षा कन।

१४२. भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्।
सुखं मेषाय मेष्यै ॥३।५९॥

हे जगदीश्वर ! आप (भेषजम्) रोगविनाशक (असि) हैं, (भेषजम्) निश्चय से आप रोगनिवारक हैं, (गवे) गौओं के लिये, (पुरुषाय) मनुष्यों के लिये, (अश्वाय) घोड़ों के लिये (भेषजम्) आप रोगनिवारक महौषध हैं। आप (मेषाय) मेढ़े के लिये, और (मेष्यै) भेड़ के लिये (सुखम्) सुखस्वरूप हैं।

["परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना आदि के करने, और ओषधियों के सेवन से, शरीर आत्मा पुत्र मित्र और पशु आदि के दुःखों को यत्न से निवृत्त करके सुखों को सिद्ध करना उचित है"। (भावार्थ, महर्षि दयानन्द)।]

१४३. ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः॥४।१:६।१५;५।४२॥

(ओषधे) हे ओषधि ! या ओषधिविद्या के जाननेवाले वैद्य !

---

१. ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात (यजु० १।१) मे गोपति का वर्णन है। गौः =पृथिवी (निघं० १।१)+पति।

(एनम्) इस की (त्रायस्व) रक्षा कर, (स्वधिते) हे शस्त्र ! या शस्त्र-धारी जन ! (एनम्) इस की (मा) मत (हिंसीः) हिंसा कर।

[ओषधे तथा स्वधिते में सम्बोधन कवितारूप में है। अथवा-लक्षणया वैद्य तथा शस्त्रधारी मनुष्य अर्थ अभिप्रेत है। निरुक्त १।५।१५ में इस मन्त्रांश के आधार पर पूर्वपक्षी ने आक्षेप किया है कि मन्त्र तो पशु के त्राण और अहिंसा का प्रतिपादन करता है, परन्तु इस का विनियोग पशु की हिंसा के लिये किया जाता है। यथा—"ओषधे त्रायस्वैनम्" (यजु० ४।१); "स्वधिते मैनं हिंसी" (यजु० ४।१) इत्याह हिंसन्। इस का उत्तर निरुक्त-कार ने यह दिया है कि "आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत" (निरुक्त १।५।१६), आम्नाय अर्थात् वेदोक्त मन्त्रांश में तो स्पष्ट "त्रायस्व और मा हिंसीः" इन शब्दों द्वारा अहिंसा ही जाननी चाहिये। विनियोग के लिये वेद उत्तरदायी नहीं। यजुर्वेद ५।४२ में "स्वधितिः" का अर्थ किया है—"दुःखों का विनाश करने-वाला विद्वान्" (म० दयानन्द); तथा ६।१५ में "ओषधिः"=प्रवर अध्यापक; और स्वधितिः=प्रशस्ताध्यापिका (म० दयानन्द)।]

१४४. घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाम् ॥६।११॥

हे स्त्रीपुरुषो ! तुम घी के द्वारा कान्ति-सम्पन्न होओ, और पशुओं की रक्षा करो। [अक्तौ=अञ्ज् कान्तिः।]

१४५. ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥११।८३॥

हे अन्नपति परमेश्वर ! हमें सभी दोपायों, और चौपाये पशुओं को अन्न बल पराक्रम दीजिये।

१४६. द्विपाच्चतुष्पादस्माकँ सर्वमस्त्वनातुरम् ॥१२।९५॥

(अस्माकम्) हमारे (सर्वम्) सब (द्विपात्) दो पगोंवाले मनुष्य पक्षी आदि, तथा (चतुष्पात्) चार पगोंवाले पशु (अनातुरम्) रोगों के दुःखों से रहित (अस्तु) हों।

१४७. अश्वं····मा हिँसीः परमे व्योमन् ॥१३।४२॥
इमं मा हिँसीरेकशफं पशुम् ॥१३।४८॥

(अश्वम्) घोड़े की (मा) मत (हिंसीः) हिंसा कर, (परमे) श्रेष्ठ (व्योमन्) रक्षा करनेवाले यज्ञस्थल में।। (इमम्) इस (एकशफम्) अनफटे खुरवाले (पशुम्) अश्वपशु की (मा) मत (हिंसीः) हिंसा कर।

१४८. गां मा हिंꣳसीरदितिं विराजम् ॥१३।४३॥
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंꣳसीः परमे व्योमन् ॥
१३।४६॥

(अदितिम्) न क्षय करने योग्य (विराजम्) तथा शोभायमान (गाम्) गौ की (मा) मत (हिंसीः) हिंसा कर॥ (अदितिम्) न काटने योग्य, (जनाय) तथा प्रजाजन के लिये (घृतम्) घी (दुहानाम्) देती हुई गौ की, (मा) मत (हिंसीः) हिंसा कर।

[अदितिम्=अ+दो (अवखण्डने)+क्तिन् (अष्टा० ७।४।४०)।]

१४९. अविं···मा हिंꣳसीः परमे व्योमन् ॥१३।४४॥
इममूर्णायुं मा हिंꣳसीः परमे व्योमन् ॥१३।५०॥

(अविम्) भेड़ की (मा) मत (हिंसीः) हिंसा कर। (ऊर्णायुम्) ऊन देनेवाले (इमम्) इस मेढे की (मा) मत (हिंसीः) हिंसा कर।

[अवि=Sheep; ऊर्णायु=Ram (आपटे)।]

१५०. योऽ अर्वन्तं जिघांꣳसति तमभ्यमीति वरुणः।
परो मर्त्तः परः श्वा ॥२२।५॥

(यः) जो (अर्वन्तम्) अश्व को (जिघांसति) मारने, वा हनन करने की इच्छा भी करता है (तम्) उसे (वरुणः) श्रेष्ठ राजा (अभ्यमीति) ताड़ना देता है। (मर्त्तः) वह मनुष्य (परः) सामाजिक जीवन से बहिष्कृत कर दिया जाता है। (श्वा) कुत्तों की सी प्रवृत्तिवाला वह मनुष्य (परः) सामाजिक जीवन से बहिष्कृत कर दिया जाता है।

[वरुणः="इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)।]

१५१. द्विपादव चतुष्पात् पाहि ॥१४।८॥

हे परमेश्वर! आप दो पैरोंवाले मनुष्यों तथा पक्षियों की (अव) रक्षा कीजिये, (चतुष्पात्) चार पैरोंवाले पशुओं का (पाहि) पालन कीजिये।

१५२. मृत्यवे गोव्यच्छमन्तकाय गोघातं क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाणऽ उपतिष्ठति ॥३०।१८॥

(गोव्यच्छम्) गौओं के सम्बन्ध में धोखा देनेवाले का निग्रह करे [आलभते ३०।२२], (मृत्यवे) उसे मृत्युसमान कष्टप्रद दण्ड देने के लिये। (गोघातम्) गौ की हत्या करनेवाले का निग्रह करे [आलभते] (अन्तकाय) उस को प्राणान्त दण्ड देने के लिये। (विकृन्तन्तम्) काटे जाते हुए (गाम्) बैल या गौ [के मांस को] (भिक्षमाणः) भिक्षा मांगता हुआ (यः) जो (उपतिष्ठति) उपस्थित होता है, उसे (क्षुधे) क्षुधा-दण्ड देने के लिये निगृहीत करे।

[यजुर्वेद अध्याय ३० में राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन है। ऐसे उक्त व्यक्तियों को राजा उचित दण्ड दे। व्यच्छम्=व्यच् व्याजीकरणे, धोखा देना। अथवा व्यच्+छो छोदने, अर्थात् दूध या कृषिकर्म अथवा बैलगाड़ी के बहाने गौ या बैल को खरीद कर उस का जो प्राणान्त कर देता है, उसे भी मृत्युदण्ड देना चाहिये। विकृन्तन्तम्=मृत गौ या मृतबैल की चमड़ी के निमित्त यदि मृतगौ या मृतबैल काटा जा रहा हो, उस समय यदि कोई क्षुधार्त व्यक्ति मांस की भिक्षा के लिये उपस्थित हो, तो उसे क्षुधादण्ड देना चाहिये। इस के द्वारा गोजाति की अधिक महिमा को सूचित किया है।]

१५३. अप कृत्यां सुव ॥३५।११॥

तू काटनेरूपी हिंसा का परित्याग कर। [कृत्या=कृती छेदने।]

१५४. अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त सऽएतँल्लोकमजयद्यस्मिन्नग्निः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽ अपः। वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त सऽ एतँल्लोकमजयद्यस्मिन् वायुः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽ अपः। सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त सऽ एतँल्लोकमजयद्यस्मिन्त्सूर्यः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽ अपः ॥२३।१७॥

(अग्निः) पार्थिव अग्नि (पशुः) पशु (आसीत्) है, (तेन) उस अग्नि के द्वारा (अयजन्त) यज्ञ करें, (सः) वह यज्ञकर्त्ता (एतम्) इस (लोकम्) पृथिवीलोक को (अजयत्) जीत लेता है, (यस्मिन्) जिस पृथिवीलोक में (अग्निः) पार्थिव अग्नि है, (सः) वह (लोकः) पृथिवीलोक (ते) तेरा (भविष्यति) हो जायेगा, (तम्) उसे (जेष्यसि) तू जीत लेगा, (एताः) तब इन (अपः) जल तथा जलोत्पन्न पदार्थों का (पिब) तू भोग कर।

(वायुः) वायु (पशुः) पशु (आसीत्) है, (तेन) उस वायु के द्वारा (अयजन्त) यज्ञ करें, (सः) वह यज्ञकर्त्ता (एतम्) इस (लोकम्) वायु के लोक अर्थात् अन्तरिक्ष को (अजयत्) जीत लेता है, (यस्मिन्) जिस में (वायुः) वायु है। (सः) वह (लोकः) वायुलोक (ते) तेरा (भविष्यति) हो जायगा, (तम्) उस वायुलोक को (जेष्यसि) तू जीत लेगा, (एताः) तब इन (अपः) जल तथा जलोत्पन्न पदार्थों का (पिब) तू भोग कर। (सूर्यः) सूर्य (पशुः) पशु (आसीत्) है, (तेन) उस सूर्य के द्वारा (अयजन्त) यज्ञ करें। (सः) वह यज्ञकर्त्ता (एतम्) इस (लोकम्) सूर्य के लोक अर्थात् द्युलोक को (अजयत्) जीत लेता है, (यस्मिन्) जिस लोक में (सूर्यः) सूर्य है। (सः) वह (लोकः) द्युलोक (ते) तेरा (भविष्यति) हो जायगा, (तम्) उस द्युलोक को (जेष्यसि) तू जीत लेगा, (एताः) तब इन (अपः) जल तथा जलोत्पन्न पदार्थों का (पिब) तू भोग कर।

[आसीत्, अयजन्त, अजयत्—इनके अर्थ महर्षि दयानन्द के किये अर्थ हैं। अपः=पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक के साथ अपः=जल का सम्बन्ध दर्शाया है। पृथिवी में पृथिवी की अपेक्षा जल ३/४ है, अन्तरिक्ष में भी सूक्ष्ममात्रा में तथा मेघरूप में जल का प्राधान्य है। सूर्य की रश्मियों के कारण हमें जल प्राप्त होता है, जिस का कि हम पान करते हैं। इसीलिये तीनों लोकों के साथ जल का सम्बन्ध मन्त्र में प्रदर्शित किया है। वस्तुतः "अपः" शब्द लक्षणया सभी भोग्य पदार्थों का सूचक है। अभिप्राय यह है कि तीनों लोकों पर विजय पा लेने पर यथार्थ भोग किये जा सकते हैं। अग्नि आदि को पशु कहा है, चूंकि ये पशुओं के सदृश उपकारी हैं, मनुष्य के लिये। योगविद्या और विज्ञान द्वारा प्रकृति पर विजय पाना सम्भव है। "परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्" (योग ३।१६) के अनुसार भूत और भविष्यत् का परिज्ञान, 'प्रवृत्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्" (योग ३।२५) के अनुसार सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूर की वस्तुओं और घटनाओं का परिज्ञान, "भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् (योग ३।३६) के अनुसार भुवनों का परिज्ञान, नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्" (योग ३।२९) के अनुसार शरीर की रचना का ज्ञान, "प्रातिभाद्वा सर्वम्" (योग ३।३३) के अनुसार बिना इन्द्रियों के ऐन्द्रियिक विषयों का ज्ञान; शरीरसहित आकाशगमन (योग ३।४२), पञ्चभूतों पर विजय (योग ३।४४), प्रधान अर्थात् प्रकृति पर विजय (योग ३।४८), सर्वभावाधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञत्व (योग ३।४९),

इसी प्रकार विवेकजज्ञान—विना इन्द्रियों के वस्तुओं का परिज्ञान कराता, सब विषयों अर्थात् सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट पदार्थों का परिज्ञान कराता, बिना क्रम के एक साथ नाना विषयों का ज्ञान कराता है (योग ३।५४)। योगी के चित्त के आवरण और मल अर्थात् रजोगुण और तमोगुण जब क्षीणप्राय हो जाते हैं, तब योगी को निःसीम ज्ञान होता है। उस समय योगी के लिये ज्ञेय वस्तुएं अल्प पड़ जाती हैं (योग ४।३१)। इस प्रकार योग के द्वारा सम्पूर्ण प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों पर विजय पाकर प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों को स्वानुकूल किया जा सकता है। योगी का प्रकृति पर विजय पाना भोग के लिये नहीं, अपितु परमार्थ के लिये है, मोक्ष के लिये है।

वर्तमान व्याख्येय-मन्त्र अश्वमेध के प्रकरण का है। अश्वमेध का अभिप्राय है–राष्ट्र। यथा—"राष्ट्रं वा अश्वमेधः" (शतपथ १३।१।६।३)। राष्ट्र की समुन्नति के लिये भोग्यपदार्थों में भी समुन्नति आवश्यक होती है। इसीलिये अग्नि (विद्युत्), वायु और सूर्य की शक्तियों द्वारा तीन लोकों पर विजय पाने का वर्णन मन्त्र में हुआ है। इन विजयों द्वारा भोग्यसामग्री का उपार्जन किया जा सकता है। अग्नि और विद्युत् द्वारा नानाविध उद्योग-धन्धे हो सकते हैं, जिन के द्वारा भोग्य-सामग्री प्राप्त हो सकतो है। वायु के सहारे अन्तरिक्ष में वायुयानों के द्वारा देश-विदेश में जाकर व्यापारिक उन्नति से भोग्यसामग्री एकत्रित की जा सकती है। सूर्य की रश्मियों के द्वारा शक्ति-संग्रह कर इस शक्ति का उपयोग भी भोग्यसामग्री के उत्पादन में किया जा सकता है। वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा अग्नि (विद्युत), वायु और सूर्य रश्मियों से भोग के योग्य नानाविध उपयोग लिये जा रहे हैं। वैज्ञानिक इन के द्वारा तीनों लोकों पर विजय पाने के स्वप्न ले रहे हैं। चांद तक आना-जाना, राकेट्स् द्वारा दूर-दूर के ग्रहों की खोज करना, रेल, तार, बिना तार की तार, फोन, रेडियो, टी० वी०, दूरवीक्षण यन्त्र आदि उपकरणों द्वारा प्रकृति पर विजय पाने में वर्त्तमान वैज्ञानिक प्रयत्नवान् हैं।

मन्त्र में तीनों लोकों पर विजय का फल दर्शाया है—स्वच्छ जल का पीना। इसलिये कि जल की सत्ता तो तीनों लोकों में है, अन्य खाद्यों और पेयों की सत्ता तीनों लोकों में नहीं है। वे पृथिवी में ही प्राप्त होते हैं।]

—:०:—

अश्वमेध-प्रकरण

(प्राक्-कथन)

[१]

'मेध' शब्द का प्रयोग आधुनिक याज्ञिक दृष्टि से उन यज्ञों के लिये होता है, जिनमें कि पशुओं की हिंसा तथा उनके मांसों की आहुतियां दी जाती हैं। परन्तु वेदों में 'मेध' शब्द का प्रयोग हिंसामय यज्ञों के लिये कहीं नहीं हुआ। 'अध्वर' शब्द भी यज्ञ के लिये प्रयुक्त होता है। 'अध्वर' का अर्थ है–हिंसारहित यज्ञ। अध्वर=अ+ध्वर् (हिंसा)+र। ध्वरति वधकर्मा (निघं० २।१९), तत्प्रतिषेधोऽध्वरः (निरुक्त १।३।८)। यज्ञों में ज्ञातकर्तव्यता के विधाता तथा हवियों के जुटानेवाले ऋत्विक को 'अध्वर्यु' कहते हैं। 'अध्वर्यु' शब्द में भी अध्वर शब्द अहिंसार्थक है। हिंस्र-कर्तव्यता के विधाता तथा मांसाहुतियों के लिये मांस जुटानेवाले को 'अध्वर्यु' नहीं कहा जा सकता। निघण्टु ३।१७ में भी 'मेध' का अर्थ यज्ञ लिखा है, न कि हिंसामय यज्ञ। अथर्ववेद में देवों को "मेध्यासः" कहा है। यथा—"तेन देवा देवतामग्र आयन्, तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः" (अथर्व ४।१४।१)। 'मेध्यासः' का अर्थ है—पवित्र न कि पशुमांसलोलुप। इसीलिये "अद्रुहा देवाः यज्ञियासः" (ऋ० २।४१।२१) में देवों को "अद्रुहाः" अर्थात् द्रोह=हिंसा से वर्जित कहा है। इसी प्रकार "प्रजार्थं गृहमेधिनाम्" (रघुवंश १।७) में 'मेध' शब्द हिंसार्थक नहीं। 'मेध' पांच प्रकार के होते हैं—अश्वमेध, गोमेध, अजमेध, अविमेध, तथा पुरुषमेध।

[२]

(१) 'अश्वमेध-प्रकरण' में 'अश्व' शब्द तीन[1] अर्थों में मुख्य रूप में प्रयुक्त हुआ

---

१. महर्षि दयानन्द ने 'अश्व' शब्द का प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में किया है। यथाः—**अश्वम्**=बड़े सर्वव्यापी उत्तम गुण को (२२।४)। **अश्वम्**=मार्गों में व्याप्त होनेवाले, तथा व्याप्त होनेवाले अग्नि को (२२।१९)। **अश्वम्**=शीघ्र चलनेवाले कलारूप घोड़े को (२३।७)। **अश्वकः**=घोड़े के समान शीघ्रगामी जन (२३।१८)। **अश्वस्य**=जो शीघ्र जानेवाला है, उस घोड़े के समान पराक्रम को (२३।३२); तथा उत्तम गुणों में व्याप्त अपने पति के (२३।३७); तथा बलवान् जन का (२३।६२)। **अश्वः**=महत्तत्व (२३।५४); **अश्वः**=घोड़ा (२९।९);

है—(क) **अश्व**=अर्थात् घोड़ा। (ख) **अश्व**=अर्थात् अश्वशक्ति-सम्पन्न व्यक्ति। (ग) **अश्व**=सूर्य। यजुर्वेद अध्याय २२ वें में "**ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्यासम्**" (२२।४) द्वारा सम्राट् ब्रह्मा अर्थात् चतुर्वेदविद् प्रधानमन्त्री को अश्व के बान्धने की सूचना देता है, और ब्रह्मा सम्राट् को कहता है कि उस अश्व को आप बान्धिये। यथा—"**तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहि**" (२२।४)। तदनन्तर '**अश्वमोचन**' किया जाता है, और अध्याय २३वें के ७वें तथा १३वें मन्त्रों के अनुसार अश्व का प्रत्यावर्तन होता है। अश्व यत्र तत्र स्वेच्छापूर्वक विचरता है, और अश्व की रक्षा के लिये रक्षापुरुष अश्व के अनुगामी होते हैं। यथा—"**देवाऽ आशापालाऽ एतं देवेभ्योऽश्वं मेधाय प्रोक्षितं रक्षत**" (२२।१९)। अश्व जिस-जिस प्रदेश में स्वेच्छापूर्वक जाता है, वहां यदि अश्व के विचरने में कोई बाधक नहीं होता, तो समझा जाता है कि अमुक-अमुक प्रदेश के राजा, सम्राट को स्वाधिपति मानते हैं। और यदि किसी राज्य से अश्व के विचरने में बाधा उपस्थित की जाती है, तो अश्व के रक्षा-पुरुष वहां युद्ध लड़ते हैं। यह अश्व मानो सम्राट् का राष्ट्रीय-झण्डा है, या सम्राट् का प्रतिनिधि है।

(२) लक्षणा द्वारा '**अश्व**' का दूसरा **अर्थ** है—"**अश्वशक्ति-सम्पन्न**", इस प्रकरण में—सम्राट्। जैसे '**अश्व**' शब्द वीर्यवान् पुरुष के लिये भी संस्कृत-साहित्य में प्रयुक्त होता है। अश्व=A race of men, Horse like in strength (आपटे)। अश्वमेध-सम्बन्धी मन्त्रों में "अश्वकः" शब्द का भी प्रयोग हुआ है (यजु० २३।१८)। "**अश्वक**" **शब्द में "इव" अर्थ में "कन्" प्रत्यय प्रतीत होता है (इवे प्रतिकृतौ**[1], अष्टा०

शीघ्रगामी अग्नि (२९।१०)। **अश्वम्**=शीघ्रगामी वायु को (२९।१३)। **अश्वाः**=शीघ्रगामी घोड़े (२९।२१)। इसी प्रकार **अर्वन्**=घोड़े के तुल्य वर्तमान वीर पुरुषः! (२९।२२); घोड़े के तुल्य वेगवाले विद्वान् पुरुषः! (२९।१२)। **अर्वन्तम्**=शीघ्र चलनेहारे घोड़े को (२२।५); घोड़े के तुल्य मार्ग को प्राप्त होते हुए अग्नि को (२९।२०)। आधिभौतिक अर्थों में निर्दिष्ट ये अर्थ प्रकरणानुसार महत्त्वशाली हैं।

१. आकृतिसादृश्य तथा गुणकर्म सादृश्य, दोनों अर्थों में प्रतिकृति शब्द का प्रयोग सम्भव है। **प्रतिकृति**=Neture, statute, image, likeness (**आपटे**)।

५।३।९६)। इसीलिये महर्षि दयानन्द ने 'अश्वकः' का अर्थ किया— "घोड़े के समान शीघ्रगामी जन"। प्रकरणानुसार यहां "जन" द्वारा सम्राट् अर्थ लिया जा सकता है। क्योंकि यजुर्वेद अध्याय २० से अध्याय ३० तक राष्ट्रिय भावनाओं का ही वर्णन हुआ है। "साम्राज्याय सुक्रतुः" (२०।२) आदि द्वारा साम्राज्य तथा सम्राट् का वर्णन है। इसी सम्राट् को "त्रातारमिन्द्रम्" (२०।५०); तथा "सुत्रामा इन्द्रः" (२०।५२) में इन्द्र कहा है। यजुर्वेद (८।३७) में इन्द्र को सम्राट् कहा है—"इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा"।

(३) 'अश्व' शब्द का तीसरा अर्थ—मन्त्र-प्रकरणानुसार "सूर्य" भी है। यथा—(क) 'उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्" (यजु० २९।१२) में "अर्वा" अर्थात् 'अश्व" को समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष से या पुरीष अर्थात् जलीय समुद्र से उदित होता हुआ कहा है। समुद्र=अन्तरिक्ष (निघं० १।३); पुरीषम्= उदकम् (निघं० १।१२)। जलीय समुद्र में सूर्य, जल से उदित हो रहा प्रतीत होता है। (ख) यजुः २९।२२ में अर्वा अर्थात् अश्व के सम्बन्ध में कहा है कि—"तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति" अर्थात् तेरे सींग जङ्गलों में विविध स्थानों में स्थित होते हैं। घोड़े के तो सींग नहीं होते। यहां शृङ्गाणि का अभिप्राय सूर्य की किरणों से है, जो कि जङ्गलों में भी प्रविष्ट हो कर वहां के अन्धकार का हरण करती हैं। शृङ्गाणि ज्वलतो नाम (निघं० १।१०), अतः ज्वलनशील सूर्यकिरणों को मन्त्र में शृङ्गाणि कहा है। जर्भुराणाः = हृञ् (हरणे) + कानच्, द्वित्व के पश्चात् हृ के "ह" को "भ" हुआ है, (हृग्रहोर्भश्छन्दसि (वार्तिक)। (ग) हिरण्यशृङ्गोऽयोऽअस्य पादा मनोजवाऽ अवरऽ इन्द्रऽआसीत् (२९।२०) में 'अर्वा' अर्थात् अश्व को सुवर्ण के सींगोंवाला, तथा इसके पैरों को भी सुवर्णमय दर्शाया है। घोड़े के सींग नहीं होते, अतः उसके सुवर्ण के सींग असम्भव हैं। न हो उसके पैर सुवर्ण के होते हैं। अयः हिरण्यनाम (निघं० १।२)। यह वर्णन सूर्य में ही उपपन्न होता है।

सूर्य के पिण्ड को सिर मानकर, उसकी द्युलोक की ओर उत्क्षिप्त किरणों की दृष्टि से उस को 'हिरण्यशृङ्ग' कहा है, तथा पृथिवी पर आती किरणों को सुवर्णमय पाद कहा है। इसकी पादरूपी किरणों को मनोजवाः अर्थात् मनः-समान वेगवती भी कहा है। क्योंकि सूर्य की किरणें १० करोड़

मीलों के मार्ग को तय कर, ८ मिनिटों में भूतल पर पहुंच जाती हैं। कविता में सूर्य की किरणों को "पाद" भी कहते हैं। यथा—"**बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम्**" (पंचतन्त्र १।३२८)। (घ) **ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः संशूरणासो दिव्यासोऽत्याः। हंसाऽइव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः॥** (२९।२१) में 'अत्याः और अश्वाः' द्वारा सूर्य की किरणों का ही वर्णन है (निरुक्त ४।२।१४)। (ङ) "**उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः**" (बृहदा० उप० अध्याय १, ब्रा० २) में भी मेध्य अश्व द्वारा घोड़े का वर्णन नहीं। घोड़े का सिर उषा नहीं होता। यजुर्वेद का संकलनकर्त्ता, शतपथब्राह्मण तथा बृहदारण्यक-उपनिषद् का रचयिता एक ही है—याज्ञवल्क्य। इसलिये बृहदारण्यक का प्रमाण, अश्वमेध-प्रकरण में पठित अश्व के स्वरूप पर प्रामाणिक प्रकाश डालता है। यजुर्वेद के अश्वमेध के मन्त्रों में और भी प्रमाण हैं, जिनके द्वारा यह प्रमाणित होता है कि **अश्वमेध में अश्व द्वारा सूर्य का ग्रहण करना चाहिये, न कि घोड़े का।** अश्वमेधीय मन्त्रों की क्रमशः व्याख्या के प्रसङ्ग में उन प्रमाणों का भी निर्देश हो जायेगा। महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद के अश्वमेधीय मन्त्रों की व्याख्या आधिभौतिक दृष्टि से की है। "**राष्ट्रं वा अश्वमेधः**" (शतपथ १३।१।६।३) की दृष्टि से महर्षि ने इन मन्त्रों में राष्ट्रीय जीवनतत्त्वों का निर्देश किया है। राष्ट्र में मानुष-जीवन, जीवनोपयोगी सामग्री, प्रजा, सम्पत्ति आदि नाना वस्तुओं की सत्ता होती है, जो कि महर्षि के भाष्य में वर्णित है। बृहदारण्यक उपनिषद् अ० १, ब्रा० २ में कहा है कि "**एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति, तस्य संवत्सर आत्मा**"। अर्थात् यह अश्वमेध है जो कि सूर्य तपता है। इस में अश्व का अर्थ है-सूर्य; और सूर्य का जो तपना है, वह "अश्वमेध" है। इस प्रमाण के आधार पर यजुर्वेद अध्याय २५ तथा २९ के अश्वमेध-सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या सूर्यपरक की है। तथा अध्याय २३ के मन्त्रों की व्याख्या राष्ट्रपरक ही की है। **सूर्य-का-तपना रूपी अश्वमेध एक महायज्ञ है।** सूर्य के ताप के कारण वर्षा होती है, वर्षा से ओषधि-वनस्पतियां पैदा होती है, और हम जीवित रहते हैं॥

अश्वमेध की राष्ट्रपरक[1] व्याख्या [१]

१५५. हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽ आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

(हिरण्यगर्भः) हिरण्य अर्थात् सूर्य आदि ज्योतियां जिस में गर्भरूप में विद्यमान हैं, तथा कारणरूप पदार्थों में जो गर्भरूप में व्यापक है, वह जगदीश्वर (अग्रे) प्रथम (सम् अवर्त्तत) सम्यक् प्रकार से विद्यमान होता है। (जातः) वह प्रसिद्ध जगदीश्वर (भूतस्य) भूत=भौतिक जगत् का (एकः) एक ही (पतिः) स्वामी तथा पालना करनेवाला (आसीत्) होता है। (सः) वह (पृथिवीम्) पृथिवी (द्याम्) द्युलोक (उत) और (इमाम्) इस विस्तृत अन्तरिक्ष का (दाधार) तीनों कालों में धारण करता है, (कस्मै) उस सुखस्वरूप (देवाय) सुखदाता जगदीश्वर के लिये (हविषा) सर्वस्व दान करके (विधेम) हम उस की परिचर्या अर्थात् सेवा करें।

[पृथिवी=पृथिवी, तथा विस्तृत अन्तरिक्ष (निघं० १।३)।]

१५६. उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिः सूर्यस्ते महिमा । यस्तेऽहन्त्संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते वायावन्तरिक्षे महिमा सम्बभूव यस्ते दिवि सूर्ये महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये स्वाहा देवेभ्यः ॥२॥

हे जगदीश्वर ! (उपयामगृहीतः) यमनियमों और योग के उपसाधनों द्वारा, तथा आप की निज स्वीकृति द्वारा आप गृहीत अर्थात् प्रकट होते हैं, या स्वानुकूल किये जाते है । (प्रजापतये) प्रजाओं के रक्षक होने के लिये, (जुष्टम्) सेवित तथा प्रसादित (त्वा) आप का (गृह्णामि) मैं सम्राट् ग्रहण करता हूं, निजमार्गदर्शक के रूप में स्वीकार करता हूं। (एषः) यह हृदय प्रदेश (ते) आप का (योनिः) घर है, (सूर्यः) सूर्य (ते) आप की (महिमा) महिमारूप है, आप की बड़ाई का सूचक है। (यः) जो (ते) आप की (महिमा) महिमा (अहन्) दिन में, तथा (संवत्सरे) सौर-

---

१. राष्ट्रं वा अश्वमेधः (शत० ब्रा० १३।१।६।३)।

वर्ष में (सम् बभूव) सम्यक् प्रकट हुई है, (यः) जो (ते) आप की (महिमा) महिमा (वायौ) वायु में तथा (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (सम्-बभूव) सम्यक्-प्रकट हुई है, (यः) जो (ते) आप की (महिमा) महिमा (सूर्ये) सूर्य में तथा (दिवि) द्युलोक में (सम् बभूव) प्रकट हुई है—(प्रजापतये) प्रजाओं का रक्षक और पालक होने के लिये, तथा (देवेभ्यः) दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये, (ते) आप की (तस्मै) उस (महिम्ने) महिमा की प्राप्ति के हेतु (स्वाहा) मैं सम्राट् अपने आप को आप के प्रति तथा साम्राज्य के प्रति समर्पित करता हूं।

[मन्त्र में सम्राट का कथन है। अध्याय २० से ३० तक साक्षात् तथा परम्परया सम्राट् और साम्राज्य सम्बन्धी क्रियाकलापों का वर्णन है **"साम्राज्याय सुक्रतुः"** (२०।२)। तथा मध्य-मध्य में इन्द्र और **"सुत्रामा इन्द्र"** का वर्णन हुआ है। इन्द्र को सम्राट् कहा है। यथा **"इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा"** (८।३७)। मन्त्र में सम्राट् परमेश्वर के निःस्वार्थ प्राजापत्य अर्थात् प्रजाओं के परिपालक स्वरूप को दृष्टिगत कर, स्वयं भी प्रजाओं के परि-पालक होने का संकल्प करता है। और इस निमित्त परमेश्वर को सदा निज हृदय में स्थित हुआ समझता है। **उपयाम = उप + यमनियम; तथा उपयमः स्वीकारे। योनिः गृहनाम (निघं० ३।४)।**]

१८७. यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽ इद्राजा जगतो बभूव।
यऽ ईशेऽ अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥३॥

(यः) जो जगदीश्वर (महित्वा) निज महिमा से (प्राणतः) प्राणमात्र-धारियों, और (निमिषतः) निमेषोन्मेष करनेवाले उच्चकोटि के प्राणियों का, तथा (जगतः) जड़-जगत् का (एकः इत्) अकेला ही (राजा बभूव) राजा हुआ है, और (यः) जो (अस्य द्विपदः) इन दोपायों और (चतुष्पदः) चौपायों का (ईशे) अधीश्वर है, उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) प्रदाता परमेश्वर के लिये (हविषा) सर्वस्व-समर्पण द्वारा (विधेम) हम परिचर्या अर्थात् सेवा भेंट करते हैं।

[प्राणतः=निमेषोन्मेषरहित प्राणी, अर्थात् कीट-पतंगे आदि। जगतः=गतिवाले जड़ जगत् का।]

१५८. उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनि-श्चन्द्रमास्ते महिमा । यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते पृथिव्यामग्नौ महिमा सम्बभूव यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः स्वाहा ॥४॥

हे जगदीश्वर ! (उपयामगृहीत) यमनियमों और योग के उप-साधनों द्वारा, तथा आप की निज स्वीकृति द्वारा आप गृहीत अर्थात् प्रकट होते है, या स्वानुकूल किये जाते हैं। (प्रजापतये) प्रजाओं का रक्षक होने के लिये, (जुष्टम्) सेवित तथा प्रसादित (त्वा) आप का (गृह्णामि) मैं सम्राट् ग्रहण करता हूं, निज मार्गदर्शकरूप में स्वीकार करता हूं। (एष) यह हृदय प्रदेश (ते) आप का (योनिः) घर है (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (ते) आप की (महिमा) महिमारूप है, आप की बड़ाई का सूचक है। (यः) जो (ते) आप की (महिमा) महिमा (रात्रौ) रात्रि में, तथा (संवत्सरे) चान्द्र-वर्ष में (सम् बभूव) सम्यक् प्रकट हुई है, (यः) जो (ते) आप की (महिमा) महिमा (अग्नौ) अग्नि में तथा (पृथिव्याम्) पृथिवी में (सम् बभूव) सम्यक् प्रकट हुई है, (यः) जो (ते) आप की (महिमा) महिमा (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में तथा (नक्षत्रेषु) नक्षत्रों में (सम् बभूव) प्रकट हुई है, (प्रजापतये) प्रजाओं का रक्षक और पालक होने के लिये, तथा (देवेभ्यः) दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये, (ते) आप की (तस्मै) उस (महिम्ने) महिमा की प्राप्ति के हेतु (स्वाहा) मैं सम्राट् अपने आप को आप के प्रति समर्पित करता हूं।

१५९. युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥५॥

(ब्रध्नम्) सब से बड़े, सर्वोपरि विराजमान, तथा सूर्यसम स्वप्रकाश-मान, (अरुषम्) रोषरहित अर्थात् सर्वस्नेही तथा अमर, (तस्थुषः) सदा स्थितिवाले नित्य जीवात्माओं की (परि चरन्तम्) परिचर्या अर्थात् सेवा करते हुए परमेश्वर को (युञ्जन्ति) अपने आत्माओं के साथ राष्ट्राधिकारी योगविधि द्वारा युक्त करते हैं, और (दिवि) द्युलोक में विद्यमान (रोचनाः) प्रदीप्त सूर्यादि की तरह (रोचन्ते) चमकते हैं।

[बध्नः=महान्, सूर्यो वा (उणा० ३।५)। अरुषम्=अ+रुषम्=रोषरहित या रिष् हिंसायाम्। परिचरन्तम्=जीवात्माओं को उन के कर्मानुसार फल देकर, उन्हें मोक्षमार्ग की ओर ले जाने से, परमेश्वर निःस्वार्थ जीवात्माओं की सेवा कर रहा है। तस्थुषः=स्थावर जीवों को (महर्षि दयानन्द)। युञ्जन्ति=अश्वमेध के प्रकरण का यह मन्त्र है। राष्ट्रं वा अश्वमेधः (शतपथ १३।१।६।३) के अनुसार राष्ट्र का प्रेम तथा न्यायपूर्वक शासन अश्वमेध है। इस दृष्टि से "युञ्जन्ति" के साथ राष्ट्राधिकारियों का सम्बन्ध दर्शाया है। राष्ट्राधिकारी यदि योगाभ्यास द्वारा परमेश्वर को हृदयस्थ जानकर शासन करेंगे, तो यह सुशासन होगा, अन्यथा कुशासन होगा।]

१६०. युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥६॥

(अस्य) इस सम्राट् के (रथे) शरीर-रथ में (काम्या) जीवन के लिये वाञ्छनीय, (विपक्षसा) शरीर के दाएँ और बाएँ पार्श्वों में मानो जुते हुए, (शोणा) चञ्चल तथा रजोगुणी, (धृष्णू) शक्तिशाली धर्षणशील, (नृवाहसा) मनुष्यों के कार्यों के वाहक, (हरी) विषयों की ओर हरण करनेवाले ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूपी घोड़ों को, योगिगुरुजन्, (युञ्जन्ति) योगविधि द्वारा युक्त करते हैं।

[राष्ट्र-प्रकरण में मन्त्र ५ द्वारा राष्ट्र के राज्याधिकारियों को योगसाधना का वर्णन हुआ है,और मन्त्र ६ में सम्राट् की योगसाधना का वर्णन है। उभयेन्द्रियों के संयमद्वारा ही सम्राट् सुशासन कर सकता है।]

१६१. यद्वातोऽ अपोऽ अगनीगन्प्रियामिन्द्रस्य तन्वम्।
एतँ स्तोतरनेन पथा पुनरश्वमावर्त्तयासि नः ॥७॥

(यत्) जो (वातः) वायु की तरह शीघ्रगति से अश्व और अश्वरक्षक, (अपः) उदक आदि स्थलों को, और (इन्द्रस्य) सम्राट् की (प्रियाम्) प्रिय (तन्वम्) तनूरूप प्रजाओं को (अगनीगन्) जिस मार्ग से गए हैं, प्राप्त हुए हैं, (अनेन पथा) इसी मार्ग से (स्तोतः) हे स्तवनकर्त्तः! (एतम्) इस (अश्वम्) घोड़े को, (नः) और हम अश्वरक्षकों को, (पुनः) फिर (आवर्तयासि) लौटने की आज्ञा प्रदान कीजिये।

[इन्द्र=सम्राट्। "स्तोता"=अश्व और अश्वरक्षकों के उन्मोचन तथा उनके

सकुशल प्रत्यावर्तन का अध्यक्ष प्रतीत होता है। सम्राट् के प्रतिनिधिरूप में अश्व को भिन्न-भिन्न स्थलों तथा राज्यों में भेजा जाता है। जहां अश्व के विचरने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं हुआ, वहां के लोग सम्राट् को अपना अधिपति मानते हैं, ऐसा समझा जायगा। और जहाँ प्रतिबन्ध हुआ, वहां रक्षापुरुष युद्ध करने के लिये तय्यार हो जाते हैं। यजुर्वेद अध्याय २२, मन्त्र ४ में अश्व को बान्धने का वर्णन है, यथा—"**ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि**", "**तं बधान**"। तथा—"**योऽअर्वन्तं जिघांसति तमभ्यमीति वरुणः। परो मर्तः परः श्वा**॥ (यजु० २२।५) द्वारा अश्वमोचन किया जाता है, और (यजु० २३।७) द्वारा अश्व और रक्षापुरुषों के प्रत्यावर्तन की आज्ञा मांगी जाती है। तथा "**एष स्य राथ्यो वृषा षड्भिश्चतुर्भिरेदगन्**" (यजु० २३।१३) द्वारा अश्वादि राष्ट्र में लौट आते हैं। सम्राट् को प्रिय तनू हैं—प्रजाएं। यथा—"**पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी। ऊरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः**" (यजु० २०।८) में प्रजाओं को, सम्राट् निज शारीरिक-अंगों के रूप में वर्णित करता है।]

अश्वमेध की राष्ट्रपरक व्याख्या [२]

१६२. वसवस्त्वाञ्जन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वाञ्जन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसादित्यास्त्वाञ्जन्तु जागतेन छन्दसा। भूर्भुवः स्वर्लाजी३ञ्छाची३न्यव्ये गव्यऽ एतदन्नमत्त देवाऽ एतदन्नमद्धि प्रजापते ॥८॥

हे सम्राट्! (वसवः) २४ वर्षों की आयु तक ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदविद्या ग्रहण किये हुए विद्वान् (त्वा) आप को (गायत्रेण छन्दसा) गायत्री छन्दोंवाले मन्त्रों द्वारा (अञ्जन्तु) ज्ञान से अभिव्यक्त करें। (रुद्राः) ३६ वर्षों की आयु तक ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदविद्या ग्रहण किये हुए विद्वान् (त्वा) आप को (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप् छन्दोंवाले मन्त्रों द्वारा (अञ्जन्तु) ज्ञान से अभिव्यक्त करें। (आदित्याः) ४८ वर्षों की आयु तक ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदविद्या ग्रहण किये हुए विद्वान् (त्वा) आप को (जागतेन छन्दसा) जगती छन्दोंवाले मन्त्रों द्वारा (अञ्जन्तु) ज्ञान से अभिव्यक्त अर्थात् सुशोभित करें। (भूः) सत्, (भुवः) चित्, और (स्वः) आनन्दस्वरूप परमेश्वर की उपासना करते हुए, (लाजीन्) लाजा अर्थात् भुने और फूले हुए चावलों, (शाचीन्) सत्तुओं, (यव्ये) जौ से बने पदार्थों, तथा (गव्ये) गोनिष्ठ दूध, दही आदि (एतत् अन्नम्) इन सात्विक अन्नों को

(देवाः) हे दिव्यगुणी अधिकारी लोगो ! (अत्त) तुम खाया करो। और (प्रजापते) हे प्रजाओं के रक्षक सम्राट् ! आप भी (एतत् अन्नम्) इन सात्विक अन्नों को (अद्धि) खाया कीजिये।

[राज्य के अधिकारी-देवों को सदा सात्विक अन्नों का भोजन करना चाहिये, तथा सम्राट् को भी। मांस, शराब अण्डों, अधिक मसालों आदि के सेवन से बुद्धि सात्विक नहीं रहती, और न सात्विक वृत्ति से प्रजा का पालन-पोषण और सुशासन हो सकता है। शासन में देवकोटि के व्यक्तियों को ही नियुक्त करना चाहिये। सम्राट् का शिक्षण सदा जारी रहना चाहिये। इस निमित्त वसु आदि विद्वानों को नियुक्त करना चाहिये। वसु विद्वान् गायत्री छन्दोंवाले मन्त्रों की विद्या में निष्णात होने चाहियें। रुद्र विद्वान गायत्री और त्रिष्टुप्छन्दोंवाले मन्त्रों की विद्या में निष्णात, तथा आदित्य विद्वान् गायत्री त्रिष्टुप् तथा जगती छन्दोंवाले मन्त्रों में विहित विद्याओं के पण्डित होने चाहियें। जैसे वर्तमान में बी०ए०; एम० ए०; तथा पीएच० डी० आदि उपाधियां हैं, वैसे ही वैदिक शिक्षा-पद्धति के अनुसार वसु रुद्र और आदित्य उपाधियां हैं। देखो—मन्त्र क्रमसंख्या(१२२)।]

१६३. कः स्विदेकाकी चरति कऽ उं स्विज्जायते पुनः।
किᳬ स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत् ॥९॥

(कः स्वित्) कौन (एकाकी) अकेला (चरति) विचरता है? (उ) और (कः स्वित्) कौन (पुनः) बार-बार (जायते) प्रकट होता है? (किं स्वित्) क्या (हिमस्य) शीत का (भेषजम्) औषध है? और (किम्) क्या (उ) तो (महत्) बड़ा (आवपनम) बीज बोने का स्थान है।

१६४. सूर्यऽ एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥१०॥

(सूर्यः)सूर्य(एकाकी) विना सहायक के अपनी कक्षा में (चरति)चलता है। (पुनः) फिर-फिर सूर्य के प्रकाश से (चन्द्रमाः) चन्द्रलोक (जायते) प्रकाशित होता है। (अग्निः) आग (हिमस्य) शीत का (भेषजम्) औषध है। (भूमिः) पृथिवी (महत्) बड़ा(आवपनम्) बीज बोने का स्थान है।

[सम्राट् के प्रशिक्षण अर्थात् ज्ञानवर्धन का वर्णन मन्त्र८में हुआ है। मन्त्र ९ से १२ तक प्रश्नोत्तर विधि द्वारा सम्राट् के सामान्यज्ञान की जांच की गई है। प्रथम मन्त्र में सम्राट् से प्रश्न किये गए हैं, और अगले मन्त्र द्वारा

सम्राट् ने उत्तर दिये हैं । इस प्रकार की प्रश्नोत्तर-विधि को "प्रहेलिका" अर्थात् पहेलियां कहते हैं । "वैतान श्रौतसूत्र" में इस प्रश्नोत्तर को "ब्रह्मोदय" कहा है (अ०७, कं० [३६], सू० ३३) । "वैतान श्रौतसूत्र" के टीकाकार सोमादित्य ने अ० ७,कं०[३७]सू० २ की टीका में इस प्रश्नोत्तर-विधि को "वाकोवाक्य न्याय" कहा है ।]

१६५. का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः कि स्विदासीद् बृहद्वयः ।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला ॥११॥

(पूर्वचित्तिः) [इस दृश्यमान जगत् में] चेतना का प्रथम स्थान (का स्वित्) कौन (आसीत्) हुआ है ? (बृहत्) बड़ा (वयः) पक्षी (किं स्वित्) कौन (आसीत्) हुआ है ? (पिलिप्पिला) पिलिपिली चिकनी वस्तु (का स्वित्) कौन (आसीत्) हुई है ? (पिशङ्गिला) अवयवों को निगलने वाली (का स्वित्)कौन वस्तु (आसीत्) हुई है ?

१६६. द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽ आसीद् बृहद्वयः ।
अविरासीत् पिलिप्पिला रात्रिरासीत् पिशङ्गिला ॥१२॥

(द्यौः) द्युलोक (पूर्वचित्तिः) चेतना की अभिव्यक्ति का प्रथम-स्थान (आसीत्) हुआ है । (अश्व) सूर्य (बृहद्) बड़ा (वयः) पक्षी (आसीत्) हुआ है । (अविः) अन्नादि द्वारा रक्षा करनेवाली अवनि अर्थात् पृथिवी (पिलिप्पिला) वर्षा द्वारा चिकनी (आसीत्)हुई है। (रात्रिः) रात (पिशङ्गिला) वस्तुओं के अवयवों को निगलनेवाली (आसीत्) हुई है ।

[इस दृश्यमान जगत् में पहिले द्युलोक पैदा हुआ । तदनन्तर द्युलोकस्थ सूर्य से पृथिवी,अन्य ग्रह, तथा उपग्रह पैदा हुए। इस लिये परमेश्वरीय चेतना की अभिव्यक्ति प्रथम द्युलोक में हुई, तदनन्तर पृथिवी आदि में हुई है ।

महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं कि—"ये सब भूगोल, लोक, और इन में मनुष्यादि प्रजा भी रहती है। जब पृथिवी के समान सूर्य चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं,पश्चात् उन में इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह? और जैसे परमेश्वर का यह छोटा सा लोक मनुष्यादि से भरा हुआ है, तो क्या ये सब लोक शून्य होंगे? परमेश्वर का कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता। तो इतने असंख्य लोकों में सृष्टि न हो, तो सफल कभी नहीं हो सकता है। इस लिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है" (सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३६०,

रामलाल कपूर ट्रस्ट, द्वितीय संस्करण)। जब प्रथम सृष्टि द्युलोक में हुई, और पृथिवी पर पश्चात् हुई। तब मनुष्यादि चेतनों का प्रादुर्भाव प्रथम द्युलोक में मानना ही होगा।

वर्तमान वैज्ञानिक Fred Hoyle तथा chandra wickrama singha कहते हैं कि "Life did not originate on earth. The life-forming-molecutes were formed in space and there were mopped up by cometary type objects and injected in to earth" (हिन्दुस्तान टाईम्ज, २३ Nov. १९७७)। इस दृष्टि से भी जीवाणुरूप-चेतनों का आविर्भाव प्रथम द्युलोक में ही हुआ है।

अश्वः बृहद्वयः = अश्व शब्द का अर्थ सूर्य भी है। यथा—"एको अश्वो वहति सप्तनामा" (ऋ० १।१६४।२)। तथा "एकोऽश्वो वहति सप्तनामा आदित्यः" (निरु० ४।४।२७); तथा "वयः सुपर्णाः" (ऋ० १०।७३।११) में "वयो वे-र्बहुवचनम्। सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः" (निरु० ४।१।२) द्वारा आदित्य की रश्मियों को सुपर्णाः अर्थात् उडनशील पक्षी कहा है। लक्षणया अर्थात् उडनशील रश्मियों के सम्बन्ध से सूर्य को भी "वयः" अर्थात पक्षी कहा है। सूर्य मानो बड़ा पक्षी आकाश में उड़ानें ले रहा है[1]। पिशङ्गिला = पिश अवयवे + गृ निगरणे। मन्त्र ९ से १२ तक के प्रश्नोत्तर, सम्राट् के प्रशिक्षक वसु आदि, और सम्राट् में हुए हैं।]

१६७. वायुष्ट्वा पचतैरवत्वसितग्रीवश्छागैर्न्यग्रोधश्चमसैः शल्मलिर्वृद्ध्या। एष स्य राथ्यो वृषा पड्भिश्चतुर्भिरेदगन् ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवतु नमोऽग्नये ॥१३॥

(पचतैः) पाकाग्नियों द्वारा (वायुः) वायु (त्वा) हे प्रजाजन! तुम्हारी (अवतु) रक्षा करे, (छागैः) बकरी के दूध-घृत-दधि द्वारा

---

१. ज्योतिषशास्त्र में एक अश्व का वर्णन है, जिसे 'पक्षिराज' कहा है। पक्षिराज का अभिप्राय है—पक्षियों का राजा अर्थात् बड़ा पक्षी। इस पक्षिराज-मण्डल में पूर्वा-भाद्रपदा तथा उत्तरा-भाद्रपदा नक्षत्र हैं। आङ्ग्ल ज्योतिष में इसे *"Pegasus"* कहा है। *Pegasus = A winged horse: one of the constellations in the northern sky.* अर्थात् यह पखोंवाला अश्व है, जो कि उत्तरीय द्यौः में एक तारामण्डल है। (*Popular Hindu Astronomy*., पृष्ठ २०४; -२०५)।

(असितग्रीवः) काली गर्दन अर्थात् ज्वालावाली अग्निहोत्र की अग्नि तुम्हारी रक्षा करे, (चमसैः) मेघों द्वारा (वृद्धचा) वृद्धि को प्राप्त (न्यग्रोधः, शल्मलिः) न्यग्रोध और सिम्बल आदि वृक्ष [छाया, फलों से] तुम्हारी रक्षा करें। (एषः) यह (स्यः) वह (राथ्यः) रथवहन योग्य (वृषा) शक्तिशाली अश्व, (चतुर्भिः) चार (पड्भिः) पगों के साथ (इत्) ही (आ अगन्) वापिस आ गया है। (ब्रह्मा) चारों वेदों का विद्वान् प्रधान-मन्त्री, (च) और (अकृष्णः:) निष्कलङ्क सम्राट् (नः) हम प्रजाजनों की (अवतु) रक्षा करे। (अग्नये) अग्रणी ब्रह्मा के लिये तथा अग्रणी-सम्राट् के लिये (नमः) हमारा नमस्कार हो।

[वायुः=विना वायु के पाकाग्नियां प्रज्वलित नहीं हो सकतीं। इसीलिये अग्नि को मरुत्-सखा कहते हैं। मरुत् अर्थात् वायु सखा है अग्नि का। छागैः = छागम्=milk of she-goat (आपटे)। **अग्निहोत्रं स्वर्गकामस्य ॥८॥ पयसा सर्वकामस्य ॥९॥ दध्नेन्द्रियकामस्य ॥१०॥** (वैतान श्रौत-सूत्र, अ० ८, कं० ५, सू० ८-१०)। **असितगीवः**=अग्निहोत्र की अग्नि में दूध-दधि घृत आदि इतनी मात्रा में प्रयुक्त करना चाहियें, जिस से यज्ञोत्थ ज्वाला काली पड़ जाय, तभी कामनाएं सफल हो सकती हैं। **चमसः = मेघः** (निघं० १।१०)। एषः स्यः=यह वह अश्व, जिसका कि मोचन किया गया था कुशलपूर्वक वापिस आ गया है। वैदिक राजनीति यह प्रतीत होती है कि सम्राट द्वारा उन्मुक्त अश्व पर यदि कोई प्रहार करे भी, तो उस की टांग को चाहे विक्षत कर दे, परन्तु उस का बध कभी न करे। टांग के विक्षत हो जाने पर प्रहारी को यह समझा जायगा कि वह सम्राट् को निज अधिपति स्वीकृत नहीं करता। चारों टांगों के साथ वापिस आ जाने पर यह समझा गया कि अश्व जहां-जहां विचरा है, वहां वहां की प्रजा तथा राजा ने सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार कर लिया है। अकृष्णः=**"जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि"** (यजु० २०।९) द्वारा सम्राट् ने घोषित किया है कि "मैं जङ्घाओं और पैरों से धर्मरूप हूं"। इसीलिये मन्त्र में **"अकृष्ण"** अर्थात् कृष्णकर्मों से रहित निष्कलङ्क सम्राट् को कहा है। **एषः स्यः**=तथा यह वह राष्ट्र-रथ का संचालक, सुखवर्षी सम्राट्, चतुष्पाद् धर्म या पुरुषार्थ के चार पादों अर्थात् धर्म अर्थ काम और मोक्ष की योजनाओं के साथ राज-सिंहासन पर आया है—यह अर्थ भी समुचित है।]

**१६८. सꣳशितो रश्मिना रथः सꣳशितो रश्मिना हयः ।
सꣳशितो अप्स्वप्सुजा ब्रह्मा सोमपुरोगवः ॥१४॥**

(रथः) जैसे रथ (रश्मिना) रस्सियों द्वारा (संशितः) कार्यक्षम किया जाता है, और (हयः) घोड़ा (रश्मिना) लगाम द्वारा (संशितः) चलने में तीक्ष्ण अर्थात् उत्तम किया जाता है, वैसे (अप्सु) जलों में विद्यमान (अप्सुजाः) जलज अर्थात् कमलवत् निर्लेप, (ब्रह्मा) चारों वेदों का विद्वान् ब्रह्मा अर्थात् सब अधिकारियों से बड़ा प्रधानमन्त्री, जो कि (सोमपुरोगवः) प्रेरक अन्य अधिकारियों का अगुआ अर्थात् अग्रणी है, (संशितः) वेदविद्या द्वारा तीक्ष्णबुद्धि किया जाता है।

[अप्सुजाः=अर्थात् कमलवत्, ब्रह्मा अर्थात् प्रधानमन्त्री को निर्लिप्त निःस्वार्थ भावना से साम्राज्य का शासन करना चाहिये । सोमपुरोगवः = सोम अर्थात् प्रजाप्रेरक राज्याधिकारी लोग (षू प्रेरणे), उन का अगुवा, प्रधानमन्त्री ।]

**१६९. स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व ।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे ॥१५॥**

(वाजिन्) हे बलशाली, तथा प्रभूत अन्नसम्पत्तिवाले सम्राट्! (स्वयम) आप स्वयं (तन्वम्) अपने शरीर अर्थात् शरीरवत् प्रियप्रजा को (कल्पयस्व) सामर्थ्ययुक्त कीजिये, (स्वयम) अपने आप (यजस्व) राष्ट्रयज्ञ का सम्पादन कीजिये, (जुषस्व) प्रजा की प्रीतिपूर्वक सेवा कीजिये, क्योंकि (ते) आप की (महिमा) महिमा (अन्येन) अन्य किसी अधिकारी के द्वारा (न सन्नशे) नहीं प्राप्त की जा सकी ।

[सम्राट् सर्वोपरि शक्ति है । राष्ट्र का कोई अधिकारी उस की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता । इस की महिमा को कोई प्राप्त नहीं कर सकता । इसलिये सम्राट् को चाहिये कि वह स्वयं राष्ट्र की देखभाल किया करे । सम्राट् निज प्रजा को निज शरीर की तरह समझता है । इस लिये वह जैसे निज शरीर को स्वयम् समर्थ बनाता, और उस की प्यारपूर्वक सेवा करता है, वैसे ही उसे प्रजा को स्वयम् समर्थ बनाना, और उस की प्रेमपूर्वक सेवा करनी चाहिये । "पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी । उरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः" (यजु० २०।८) में सम्राट् प्रजाओं

को निज शरीर के अंगों की तरह समझता है। वाजिन्=वाजः। बलनाम (निघं० १।६), वाजः अन्ननाम (निघं० २।७)+इनिः (अत इनिठनौ, अष्टा० ५।२।११५)। इनिः=प्रशंसायाम्, भूम्नि च। यथा "भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः"। संनशे=नशत् व्याप्तिकर्मा (निघं० २।१८)।]

१७०. न वाऽ उ॑ ऽ एतन्म्रि॑यसे न रि॑ष्यसि दे॒वाँ२॑ ऽ इदे॑षि प॒थिभिः॑ सु॒गेभिः॑। यत्रास॑ते सु॒कृतो॒ यत्र॒ ते य॒युस्तत्र॑ त्वा दे॒वः स॑वि॒ता द॑धातु ॥१९॥

(उ) निश्चय से, हे सम्राट्! (एतत्) इस मार्ग को प्राप्त होकर (न वै) न आप (म्रियसे) मरते हैं, और (न) न (रिष्यसि) विनाश या कष्ट को प्राप्त होते हैं, इन (सुगेभिः) सुगम तथा सत्य (पथिभिः) मार्गों द्वारा आप (देवान् इत्) दिव्यगुणों को ही (एषि) प्राप्त होते हैं। (यत्र) जिन सुगम तथा सत्य मार्गों में (सुकृतः) सुकर्मा सम्राट् (आसते) विद्यमान हैं, (यत्र) और जिन सुगम तथा सत्य मार्गों में अन्य सम्राट् (ययुः) चलते रहे हैं, (तत्र) उन सुगम तथा सत्य मार्गों में, (सविता देवः) सर्वोत्पादक, सर्वैश्वर्यवान् परमेश्वर देव, (त्वा) आप को (दधातु) स्थापित करे।

[ये सुगम मार्ग पूर्वोक्त मन्त्र में निर्दिष्ट किये हैं, अर्थात् स्वयम् प्रजा को शक्तिशाली बनाना, स्वयम् राष्ट्रयज्ञ को रचाना, स्वयम् प्रीतिपूर्वक प्रजा की सेवा करना आदि, ये मार्ग सुगम, ऋजु या सत्यमार्ग हैं। सत्यमार्ग सुगम, अर्थात् ऋजु होते हैं, छलकपट आदि से रहित होते हैं। इन मार्गों पर चलनेवालों की रक्षा "सोम अर्थात् सर्वोत्पादक परमेश्वर करता है। यथा—"सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्" (अथर्व० ८।४।१२), इस मन्त्र में ऋजुमार्ग को सत्यमार्ग कहा है। जो सम्राट् अपने साम्राज्य की स्वयम् देखभाल करता, प्रजा को निज शरीर की तरह जानता, और प्रेमपूर्वक प्रजा की सेवा करता है, उसे कौन मारेगा, या कष्ट पहुंचाएगा?]

१७१. अ॒ग्निः प॒शुरा॑सी॒त्तेना॑यजन्त॒ स ऽ ए॒तँल्लो॒कम॑जय॒द्यस्मि॑न्न॒ग्निः स ते॑ लो॒को भ॑विष्यति॒ तं जे॑ष्यसि॒ पिबै॒ता ऽ अ॒पः। वा॒युः प॒शु-

रासीत्तेनायजन्त सऽएतँल्लोकमजयद्यस्मिन् वायुः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽ अपः । सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त सऽएतँल्लोकमजयद्यस्मिन्त्सूर्यः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽ अपः ॥१७॥

[मन्त्र में सम्राट् को पशुयज्ञ का वास्तविक स्वरूप दर्शाया है, और इस यज्ञ द्वारा त्रिलोकी को स्वानुकूल बना लेने का आश्वासन दिया है। मन्त्र की व्याख्या के लिये देखो—"पशुयज्ञ पर सामान्य दृष्टि" मन्त्र क्रमांक १५४)।]

अश्वमेध की राष्ट्रपरक व्याख्या [४]

१७२. प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा ।
अम्बेऽ अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन ।
ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम् ॥१८॥

(प्राणाय) प्रजा की प्राणरक्षा के लिये मैं सम्राट् (स्वाहा) आहुतियां देता हूं, (अपानाय) प्रजा के अपान की सुरक्षा के लिये (स्वाहा) आहुतियां देता हूँ, (व्यानाय) प्रजा के शरीरव्यापी प्राण के लिये (स्वाहा) आहुतियां देता हूँ। (अम्बे) हे जगन्माता ! (अम्बिके) हे प्रशंसनीय जगन्माता ! (अम्बालिके) हे दानशील प्रशस्त जगन्माता ! (कश्चन) कोई भी (मा न नयति) मेरा नेता नहीं है [आप ही मेरी नेत्री अर्थात् मार्गदर्शिका हैं, इस लिये आपके द्वारा दर्शाये मार्ग पर चल कर] (अश्वकः) घोड़े के समान शीघ्रकार्यकारी, तथा शक्तिशाली यह सम्राट्, (सुभद्रिकाम्) उत्तम सुखदायिनी तथा कल्याणकारिणी, और (काम्पीलवासिनीम्[1]) कम्पील आदि वृक्षों द्वारा आच्छादित राजधानी में (ससस्ति) सुख के स्वप्न ले ले रहा है।

[अम्बिका=अम्बा+ठन् (प्रशंसायाम्; अष्टा० ५।२।११५)। आकारान्त अम्बा शब्द में "बहुलं छन्दसि" द्वारा ठन्-प्रत्यय[2]। अम्बालिका=अम्बा+ला

---

१. काम्पील=कम्पील=कमीला वृक्ष। यह उदर-कृमि नाशक है।

२. यथा शिखी माली इत्यादि लौकिक प्रयोगों में,अकारान्त शब्दों मेंभी "इनि:"

(दानेऽपि) +ठन् । ससस्ति=षस् स्वप्ने, तथा सस्ति स्वप्ने । सुभद्रिकाम्=सु+भदि कल्याणे सुखे च । काम्पील=एक प्रकार का वृक्ष (मालती माधव ६।३१) । वासिनीम्=वस आच्छादने । सम्राट्, अग्नि-वायु और सूर्यरूपी-पशुओं द्वारा महायज्ञ रचा कर प्रजा के प्राणादि को स्वास्थ तथा सुरक्षित करता है, और शासन में परमेश्वर द्वारा दर्शाये सन्मार्ग पर चल कर सुख-स्वप्न लेता है। सम्राट् के लिये परमेश्वर ने वेदों द्वारा मार्ग दर्शाया है। अश्वक:=घोड़े के समान शीघ्रकारी जन (म० दया०)। अश्वक: (देखो—प्राक् कथन) ।]

१७३. गणानां त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम । आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥१६॥

(वसो) हे चराचर जगत् को वसानेवाले या सर्वत्र वसनेवाले, (मम) मेरे जगदीश्वर ! (गणानाम्) सैनिकगणों प्रजागणों तथा तारागणों के बीच (गणपतिम्) इन गणों के पति (त्वा) आप को (हवामहे) हम सब मिल कर सहायतार्थ पुकारते हैं, (प्रियाणाम्) प्रिय सम्बन्धियों तथा प्रिय वस्तुओं के बीच (प्रियपतिम्) इन प्रियों के पति (त्वा) आप को (हवामहे) हम सब मिलकर सहायतार्थ पुकारते हैं, (निधीनाम्) सम्पदाओं के बीच (निधिपतिम्) समग्र सम्पदाओं के स्वामी (त्वा) आप को (हवामहे) हम सब मिलकर सहायतार्थ पुकारते हैं। (अहम्) मैं सम्राट् (गर्भधम्) गर्भ के समान जगत् को धारण करनेवाले परमेश्वर को (आ अजानि) शरणार्थीरूप में प्राप्त होता हूं। हे ब्रह्मन् ! प्रधानमन्त्रिन् ! (त्वम्) आप भी (गर्भधम्) गर्भ के समान जगत् को धारण करनेवाले परमेश्वर को (आ अजासि) शरणार्थीरूप में प्राप्त हूजिये।

[सुचारु रूप में शासन करने के लिये सम्राट् और प्रधानमन्त्री परमेश्वर से सहायता चाहें, और एतदर्थ सदा परमेश्वर के शरणार्थी बनें। मन्त्रक्रमांक (१६७) में कथित "ब्रह्मा, अकृष्णश्च" का वर्णन इस मन्त्र में हुआ है।]

प्रत्यय हुआ है। तथा इसी मन्त्र (१८) में "सुभद्रिकाम्" में ठन् प्रत्यय हुआ है। सुभद्रा आकारान्त है। इसी प्रकार अम्बिका आदि में अम्बा आदि से ठन् प्रत्यय हुआ है।

१७४. ताऽ उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके।
प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु ॥२०॥

(तौ) वे (उभौ) हम दोनों अर्थात् सम्राट् और ब्रह्मा, (स्वर्गे) सुख-प्राप्ति के (लोके) स्थान इस साम्राज्य में (चतुरः) पुरुषार्थ के चार अर्थात् धर्म अर्थ काम और मोक्ष के (पदः) पादों अर्थात् विभागों का (सम् प्रसारयाव) सम्यक् प्रसार करें। (प्रोर्णु वाथाम्) प्रजाजन कहते हैं कि हे सम्राट् तथा ब्रह्मन् ! आप दोनों प्रजाजन के वस्त्र-आच्छादन का प्रबन्ध कीजिये, तथा प्रजाजन को सुखों के द्वारा आच्छादित कीजिये। (वृषा) जल की वर्षा करनेवाला, और (रेतोधा) जल के द्वारा प्रजाजन का धारण-पोषण करनेवाला, (वाजी) और इस के द्वारा प्रभूत अन्न-सम्पत्ति वाला जलाधिकारी शासक, (रेतः) जलव्यवस्था को (दधातु) सम्पुष्ट करे।

[**स्वर्गे लोके=स्वः (सुख) + ग (प्राप्ति) का स्थान।** स्वर्ग शब्द वेद में इस यौगिक अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। इस में पौराणिक भावना का प्रवेश नहीं है। "**अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः**" (अथर्व० १०।२।३१) में "स्वर्ग" पद के द्वारा हृदय का वर्णन हुआ है, जो कि ब्राह्मी-ज्योति से घिरा रहता है। इसी प्रकार सम्पन्न सद्-गृहस्थ को स्वर्गलोक (अथर्व० ४।३४।१-८) कहा है। तथा पितृ-ऋण चुकानेवालों, और विना सन्तान के दानियों के जीवनों को भी "**स्वग एव**" कहा है (अथर्व० ६।१२२।१-२)। **रेतोधाः=रेतः उदकनाम (निघ० १।१२) +धाः (धारण-पोषण)**। जल-व्यवस्था द्वारा प्रजा का धारण-पोषण, अन्नोत्पत्ति, तथा वस्त्रों और आच्छादनों के लिये कपास तथा भेड़ों की पुष्टि द्वारा ऊन प्राप्त हो सकती है। जिस साम्राज्य में इन वस्तुओं की सत्ता हो, उसे स्वर्गलोक कहा है।]

१७५. उत्सक्थ्याऽ अव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्।
यः स्त्रीणां जीवभोजनः ॥२१॥

(वृषन्) हे सुखों की वर्षा करनेवाले सम्राट् ! (उत् सक्थ्याः) उद्यमी टांगोंवाली, अर्थात् परिश्रमी प्रजा के (गुदम्) क्रीड़ा-मनोरञ्जनों की ओर भी (अवधेहि) अवधान अर्थात् ध्यान कीजिये, तथा साम्राज्य में (अञ्जिम्) कान्ति और शोभा का भी (सम् चारय) संचार कीजिये।

(यः) जो अञ्जि, अर्थात् कान्ति और शोभा (स्त्रीणाम्) स्त्रियों के (जीवभोजनः) जीवनों में उन की प्रसन्नता के लिये भोजनरूप है।

[गुदम्=गुद क्रीडायामेव (भ्वादि)। अवधानम्=ध्यान देना, Attention (आपटे), यथा—दत्तावधानः शृणोति। अञ्जिम्=अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्ति-गतिषु। जीवभोजनः=स्त्रियों को अलंकृति विशेषतया रुचिकारक और प्रसादक होती है। इसीलिये विवाह में अलंकृता कन्या को प्रदान किया जाता है। तथा—"तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः" (मनु० ३।५९)।]

१७६. यकासकौ शकुन्तिकाहलगिति वञ्चति।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका ॥२२॥

(शकुन्तिका) पक्षिणी की तरह कमजोर (यका) जो (असकौ) वह प्रजा, जब (आहलक्) पूर्णतया विलेखित अर्थात् दुःखी हुई (इति) सी (वञ्चति) विचरती है, और जब (गभे) निराशान्धकार में (पसः) विनाश (आहन्ति) आघात करता है, चोट पहुंचाता है, तब (धारका) साम्राज्य का कर-प्रदान आदि धारण-पोषण करनेवाली प्रजा, (निगल्गलीति) नितरां गलित हो जाती है।

[यका असकौ=स्वार्थे अकच् प्रत्ययः। आहलक्=आ+हल विलेखने। गभे=गभः अन्धकारः, यथा—"गभस्तौ"। गभस्तिः=गभमन्धकारमस्यतीति, किरणो वा (उणा० ४।१८१, महर्षि दयानन्द)। पसः=पसि नाशने। धारका—ब्राह्मण विद्या के प्रसार द्वारा, क्षत्रिय अस्त्र-शस्त्र द्वारा, वैश्य व्यापार कलाकौशल द्वारा, तथा शूद्र शारीरिक श्रम द्वारा साम्राज्य का धारण-पोषण करते हैं।

१७७. यकोऽसकौ शकुन्तकऽआहलगिति वञ्चति।
विवक्षतऽइव ते मुखमध्वर्यो मा नस्त्वमभि भाषथाः ॥२३॥

[दुःखी प्रजा द्वारा विद्रोह हो जाने पर] (यकः) जो (असकौ) वह सम्राट्, (शकुन्तक) पक्षी की तरह कमजोर हुआ-हुआ (आहलक्) पूर्णतया विलेखित अर्थात् दुःखी हुआ (इति) सा (वञ्चति) विचरता है [इस के उत्तर में अध्वर्यु कुछ कहना ही चाहता था, परन्तु उसे रोका गया, यह कहकर कि] (अध्वर्यो) हे अध्वर्यु! (विवक्षतः) कहने की इच्छावाले

की (इव) तरह (ते) तेरा (मुखम्) मुख है, (त्वम्) तू (नः) हमारे प्रति (मा) न (अभि भाषथाः) अभिभाषण दे।

[अध्वर्युः=अश्वमेध-यज्ञ की इतिकर्तव्यता जुटानेवाला व्यक्ति। यह अध्वर्यु सम्राट् के पक्ष में कुछ कहना ही चाहता था कि प्रजा के प्रतिनिधि द्वारा भाषण देने से रोक दिया गया।]

१७८. माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः।
प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंसयत् ॥२४॥

[हे प्रजा के प्रतिनिधि!] (ते) तेरी (माता च) माता के समान अर्थात् राणी (च ते पिता) और तेरे पिता के समान अर्थात् सम्राट् (वृक्षस्य) साम्राज्यरूपी-वृक्ष की (अग्रम्) चोटी तक (रोहतः) चढ़े हुए हैं। (प्रतिलामि) प्रत्येक प्रजाजन के साथ मैं स्नेह करता हूं, (इति) यह कह कर (ते) तेरा (पिता) सम्राट् (गभे) निराशान्धकार में (मुष्टिम्) तेरी मुट्ठी को धन द्वारा (अतंसयत्) अलङ्कृत करता रहा है।

[ब्रह्मा अर्थात् प्रधानमन्त्री (मन्त्रक्रमांक (१७९) विद्रोहियों के प्रतिनिधि को कहता है कि निराशान्धकार के समय सम्राट्, प्रत्येक प्रजाजन की धन द्वारा सहायता करता रहा है, इस लिये तुम्हें विद्रोह न करना चाहिये। सम्राट् पिता है। यथा—"सः पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः" (रघुवंश)। तिलामि=तिल स्नेहने। अलसयत्=तसि अलंकरणे।]

१७९. माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य क्रीडतः।
विवक्षतऽइव ते मुखं ब्रह्मन्मा त्वं वदो बहु ॥२५॥

[विद्रोहियों का प्रतिनिधि करता है कि] (ते) आपकी (माता च) माता के समान अर्थात् राणी (च ते पिता) और आपके पिता के समान अर्थात् सम्राट्, (वृक्षस्य) साम्राज्य-वृक्ष की (अग्रे) चोटी पर चढ़कर (क्रीडतः) क्रीड़ा-मनोरञ्जन में ही लगे रहते हैं [साम्राज्य की परवाह नहीं करते]। (विवक्षतः) कुछ कहना चाहते हुए (इव) की तरह (ते) आप की मुखाकृति है, (ब्रह्मन्) हे प्रधानमन्त्रिन्! (त्वम्) आप (बहु) बहुत (मा वदः) न वादविवाद कीजिये।

१८०. ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापय गिरौ भारं हरन्निव।
अथास्यै मध्यमेधताᳬ शीते वाते पुनन्निव ॥२६॥

हे ब्रह्मन् ! प्रधानमन्त्रिन् ! (ऊर्ध्वाम्) उन्नत (एनाम्) इस प्रजा को (उच्छ्रापय) और समुन्नत कीजिये (इव) जैसे कि (गिरौ) पर्वत में (भारम्) भार को (हरन्) ले जाता हुआ व्यक्ति, भार को पर्वत की एक ऊंचाई से और समुन्नत ऊंचाई तक ले जाता है। (अथ) तदनन्तर (अस्यै =अस्याः) इस प्रजा का (मध्यम्) मध्यमवर्ग या वैश्यवर्ग (एधताम्) वृद्धि को प्राप्त हो, (इव) जैसे कि (शीते वाते) शीतकाल की वायु में (पुनन्) चावलों को भूसे से अलग करता हुआ व्यक्ति चावलों के ढेर की वृद्धि कर देता है।

[शीते वाते=व्रीहि अर्थात् धान, और यव अर्थात् जौं को वेद में स्वास्थ्यवर्धक कहा है। यथा- **व्रीहिर्यवश्च भेषजौ** (अथर्व० ८।७।२०)। जौ ग्रीष्म ऋतु में होते है, और व्रीहि शीत ऋतु में। मन्त्र में शीत ऋतु में "पुनन्" का कथन किया है। इस लिये इस के द्वारा व्रीहि का वर्णन प्रतीत होता है। व्रीहि को कूट कर भूसे या छिलके से चावलों को अलग करना होता है। यह अभिप्राय "पुनन्" का है। मध्यम्=वैश्य। यथा—'**मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत**" (अथर्व० १९।६।६)। इस में पुरुष के मध्यभाग को वैश्य कहा है। शरीर का मध्यभाग है—उदर। यह अन्न और पान का स्टोर (Store) है। वैश्य भी अन्नादि का स्टोर रखता है, व्यापार के लिये। इस दृष्टि से वैश्य को "मध्यम्" कहा है। वैश्य की उन्नति पर शेष प्रजा की उन्नति निर्भर होती है। इसलिये मन्त्र में वैश्य की वृद्धि का वर्णन हुआ है।]

१८१. ऊर्ध्वमेनमुच्छ्रयताद् गिरौ भारꣳ हरन्निव।
अथास्य मध्यमेजतु शीते वाते पुनन्निव ॥२७॥

मन्त्र का अर्थ पूर्ववत् (मन्त्र २६) है। इस मन्त्र में "**ऊर्ध्वम् एनम्**" द्वारा सम्राट् का वर्णन है। सम्राट् को मन्त्र २५ में क्रीड़ारत दर्शाया है। ब्रह्मा अर्थात् प्रधानमन्त्री को इस मन्त्र के द्वारा कहा है कि सम्राट् राष्ट्र-विधान द्वारा, यद्यपि उन्नत पद पर आरूढ है, इसे क्रीड़ा-रति से छुड़ा कर उन्नति के पथ पर आप लाइये। मन्त्र में "**एजतु**"पद पठित है। इस का अर्थ है 'प्रदीप्त हो' अर्थात् व्यापार और कलाकौशल द्वारा चमके। मन्त्र में "मध्यम्" से अभिप्राय है—वैश्य (मन्त्र २३।२६)। **एजतु=एजृ दीप्तौ (भ्वादि)**।]

१८२. यद॑स्याऽ अꣳहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत् ।
मुष्कावि॑दस्याऽ एजतो गोशफे श॑कुलावि॑व ॥२८॥

(यत्) जो भी (कृधु) छोटा या (स्थूलम्) बड़ा राज्याधिकारी, (अंहुभेद्याः) पापकर्मों को छिन्न-भिन्न कर देनेवाली (अस्याः) इस प्रजा का (उपातसत्) जब क्षय करता है, तब (मुष्कौ इत्) बलवान् भी वे छोटे तथा बड़े राज्याधिकारी, (अस्याः) इस प्रजा के भय से (एजतः) कांपते रहते हैं, (इव) जैसे कि (गोशफे) गौ के खुर के समान छोटे गढ़े के जल में (शकुलौ) छोटी दो मछलियां (एजतः) कांपती रहती है।

[अंहुभेद्याः = अंहुभेदी (स्त्रियाम्) + षष्ठी विभक्ति; प्रजा, राजपुरुषों के पापकर्मों को छिन्न-भिन्न करने का सामर्थ्य रखती है। इसलिये पापकर्म करनेवाले छोटे-बड़े राज्याधिकारी प्रजाबल से भयभीत होकर कांपते रहते हैं। एजतः = एजृ कम्पने (भ्वादि)। उपातसत् = तसु उपक्षये। मुष्कौ = मुष स्तेये अर्थात् प्रजा के धन को चुरानेवाले; तथा बलवान्'—ये दो अर्थ अभिप्रेत हैं। मुष्कः = muscular or robust man आपटे)।]

१८३. यद् देवासो ललाम॑गुं प्र विष्टीमिनमाविषुः ।
सक्थ्ना दे॑दिश्यते नारी सत्यस्या॑क्षिभुवो यथा ॥२९॥

(यद्) जब (देवासः) दिव्यगुणी विद्वान् राज्याधिकारी, (ललामगुम्) सर्वोत्तम आचारवाले, तथा (विष्टीमिनम्) विशेषतया दयार्द्र हृदय वाले सम्राट् की (प्र आविषुः) प्रकर्षरूप में अर्थात् पूर्णतया सुरक्षा करते हैं [उसे दुर्मार्ग में जाने से रोकते रहते हैं], तब (नारी) नेता-सम्राट् की प्रजा, (सक्थ्ना = उत्सक्थ्ना (मन्त्र २३।२१) उद्यमो टांगो द्वारा लक्षित हुई (देदिश्यते) निर्दिष्ट होती हैं, (यथा) जैसे कि (अक्षिभुवः) आंखों द्वारा प्रत्यक्ष (सत्यस्य) सत्पदार्थ, अर्थात् विद्यमान पदार्थ की सत्यता निर्दिष्ट होती है।

[ललामगुम् = ललाम गतिवाले, सदाचारी। विष्टीमिनम् = वि + ष्टीम् (आर्द्रीभावे) + कः + इनिः। नारी = नुः नेतुः सम्राज्ञः इयम् = प्रजा। अभिप्राय यह कि राजा कितना भी सदाचारी तथा दयावान क्यों न हो, तब भी लक्ष्मी और शक्ति के मद में वह उत्पथगामी हो सकता है, अतः दिव्यगुणी तथा विद्वान् मन्त्री आदि उस की विशेष रक्षा करते रहें, क्योंकि राज्य-

व्यवस्था के ठीक रहने पर ही प्रजा अपने-अपने कामों में उद्यमशील हो सकती है।]

१८४. यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते।
शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति ॥३०॥

(हरिणः) हरिण (यद्) जो (यवम्) खेत में उगे जौं को (अत्ति) खाता है, तो (पशु) देखनेवाला अर्थात् खेत का स्वामी या रखवाला, हरिण को (पुष्टम्) पुष्ट हुआ (न मन्यते) नहीं मानता। इसी प्रकार (अर्यजारा) निज दुर्व्यवहारों से स्वामी को जीर्ण-शीर्ण करनेवाली (शूद्रा) शूद्रबुद्धिवाली पत्नी (यद्) जो (धनायति) पति से धन चाहती है, वह (न पोषाय) स्वामी अर्थात् पति की पुष्टि के लिये नहीं चाहती।

[अभिप्राय यह कि ऐसी पत्नी राजदण्ड की अधिकारिणी है। पशु= अव्यय, इस लिये विभक्ति रहित है, पश्यतीति पशुः। अथवा पशु=पशुम्। यथा—"लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः" (ऋ० ३।५३।२३), पर निरुक्तकार "लुब्धमृषिं नयन्ति पशुं मन्यमानाः" (४।२।१४)। इस दृष्टि से "पुष्टं पशु= पुष्टं पशुम्' न मन्यते यवस्वामी। अर्यः=स्वामी, पति। अर्यः स्वामिवैश्ययोः (अष्टा० ३।१।१०३)।]

१८५. यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते।
शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनु मन्यते ॥३१॥

(हरिणः) हरिण (यत्) जो (यवम्) खेत में उगे जौं को (अत्ति) खाता है, इस से खेत का स्वामी, (पुष्टम्) पुष्ट हरिण को (न बहु मन्यते) बहु मान नहीं देता, उस की पुष्टि से प्रसन्न नहीं होता, इसी प्रकार (शूद्रः) शूद्रबुद्धिवाला पति (यद्) जो (अर्यायै=अर्यायाः) गृहस्वामिनी का (जारः) जार बन कर अति भोग द्वारा उसे जीर्ण कर देता है, इस के द्वारा पति, (पोषम्) निज पत्नी की पुष्टि पर (न अनुमन्यते) विचार नहीं करता।

[ऐसा पति भी राजदण्ड का अधिकारी है।]

१८६. दधिक्राव्णोऽ अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत् प्र णऽ आयूंषि तारिषत् ॥३२॥

(दधिक्राव्णः) प्रजा का धारण-पोषण करनेवाले, तथा शत्रु पर आक्रमण करनेवाले, (वाजिनः) बलशाली, तथा प्रभूत अन्न सम्पत्तिवाले, (जिष्णोः) विजयी (अश्वस्य) अश्वसमान शीघ्रकारी सम्राट् के मुख को विजय-यश द्वारा (सुरभि) समुज्ज्वल (अकारिषम्) मैं प्रधानमन्त्री ने किया है। वह सम्राट् (नः) हम प्रजाजनों के (मुखा) मुखों को भी निज विजयों द्वारा (सुरभि) समुज्ज्वल करे, और (नः) हम प्रजाजनों के (आयूँषि) जीवनकालों तथा अन्न-सामग्रियों को (प्र तारिषत्) अत्यधिक बढ़ाए।

[दधि=धा (धारणपोषणयोः)+क्रावा (आक्रमण)। आयूंषि=आयुः अन्न-नाम (निघं० २.७), तथा आयुः=जीवनकाल। प्रतारिषत्=प्रवर्धयतु (निरुक्त० १०।३।३४)। सुरभि="तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः" (रघुवंश), अर्थात् यशों द्वारा सुरभि।]

अश्वमेध की राष्ट्रपरक-व्याख्या [५]

१८७. गा॒य॒त्री त्रि॒ष्टुब् जग॑त्यनु॒ष्टुप्प॒ङ्क्त्या स॒ह।
बृ॒ह॒त्यु॒ष्णिहा॑ क॒कुप् सू॒चिभिः॑ शम्यन्तु त्वा ॥३३॥

हे सम्राट्! गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, पङ्क्ति, बृहती, उष्णिक्, ककुप्—इन छन्दों से युक्त मन्त्र, (सूचिभिः) आप के कर्त्तव्यों की सूचनाओं द्वारा, (त्वा) आप को (शम्यन्तु) सुख-शान्ति प्राप्त कराएँ।

[पौराणिक विद्वान् कहते हैं कि अश्वमेध में अश्व की त्वचा को सूइयों द्वारा बेंधने का विधान है। गायत्री आदि छन्द या छन्दोयुक्त मन्त्र सूइयों द्वारा कैसे अश्व को बेंध सकते हैं? सूचिभिः=सूचयतीति सूचिः (उणा० ४।१४०)।]

१८८. द्वि॒प॑दा॒ याश्चतु॑ष्पदा॒स्त्रिप॑दा॒ याश्च॒ षट्प॑दाः।
विच्छ॑न्दा॒ याश्च॒ सच्छ॑न्दाः सू॒चिभिः॑ शम्यन्तु त्वा ॥३४॥

(विच्छन्दाः) छन्द-रहित (च) और (याः) जो (सच्छन्दाः) छन्द-सहित वेदवाणियां हैं, तथा सच्छन्दों के अवान्तर प्रकार अर्थात् (द्विपदाः) दो पादोंवाली, (च) और (याः) जो (चतुष्पदाः) चार पादोंवाली, (त्रिपदाः) तीन पादोंवाली (च) और (याः) जो (षट्पदाः) छः पादोंवाली

वेदवाणियां हैं, वे (सूचिभिः) आप के कर्त्तव्यों को सूचित करके (त्वा) हे सम्राट् ! आप को (शम्यन्तु) सुख और शान्ति देवें।

[विच्छन्दाः तथा सच्छन्दा द्वारा वेद की गद्य तथा पद्य सभी वाणियों का ग्रहण है, और द्विपदाः आदि द्वारा सच्छन्दा-वाणियों के कतिपय भेद दर्शाए हैं। इस मन्त्र में भी पौराणिक सूचीभावना प्रतीत नहीं होती। मन्त्र किस प्रकार सूइयों द्वारा अश्व की त्वचा को बेंध सकते हैं? मन्त्रों में 'सूचिभिः' द्वारा कर्त्तव्य-सूचना का ही निर्देश प्रतीत होता है, (देखो—मन्त्र क्रमांक १६२) जिस में कि गायत्री आदि छन्दों से वसु आदि द्वारा, सम्राट् के प्रशिक्षण का वर्णन हुआ है।]

१८९. महानाम्न्यो रेवत्यो विश्वा आशाः प्रभूवरीः।
मैघीर्विद्युतो वाचः सूचिभिः शम्यन्तु त्वा ॥३५॥

(महानाम्न्यः) महानाम्नी ऋचाएं, (रेवत्यः) धन-सम्पद् का वर्णन करनेवाली ऋचाएं, (विश्वाः) प्रजाओं की नाना प्रकार की, तथा (प्रभूवरीः) प्रभूत तथा प्रभावशाली (आशाः) आकांक्षाएं, तथा (मैघीः) मेघों की, और (विद्युतः) विद्युत् की (वाचः) गर्जनाएं तथा कड़कनें (सूचिभिः) सूचनाओं द्वारा (त्वा) हे सम्राट् ! आप को (शम्यन्तु) सुख और शान्ति प्रदान करें।

[महानाम्न्यः=सामवेद के महानाम्न्यार्चिक में १० ऋचाएं हैं। इन में त्रिलोकी की आत्मा इन्द्र अर्थात् परमेश्वर का वर्णन है। इन ऋचाओं में अध्यात्मज्ञान गुम्फित है, अर्थात् परमेश्वर के महानाम, महाकीर्ति का वर्णन हुआ है। रेवत्यः=ये वे ऋचाएं हैं, जिन में "रयि" अर्थात् सांसारिक धन-सम्पदाओं का वर्णन है। साम्राज्य के लिये अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की आवश्यकता है। इन दोनों के होते ही साम्राज्य में सुख और शान्ति हो सकती है। आशाः=इस के द्वारा दर्शाया है कि प्रजाओं की नाना तथा प्रभावशाली आकाँक्षाएं भी आप के कर्त्तव्यों की सूचनाएं आप को दे रही हैं। साथ ही मेघसम्बन्धी गर्जनाएं, और विद्युत् की कड़कें भी अन्नोत्पादन की सूचनाएं आप को दे रही हैं, जो कि आप और प्रजा के लिये सुख और शान्ति प्रदान करेंगी। इस मन्त्र में सूइयों द्वारा अश्व की त्वचा का बेंधना प्रतीत नहीं होता। मेघों की गर्जनाएं और विद्युत् की कड़कनें सूचीवेध कैसे कर सकती हैं? मेघों और विद्युतों का प्रभाव

अन्नोत्पादन के लिये है । यह भाव मन्त्र-क्रमांक १९२ में और स्पष्ट किया है ।]

१९०. नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया ।
देवानां पत्न्यो दिशः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥३६॥

हे सम्राट् ! (ते) आप के साम्राज्य में (नार्यः) सर्वसाधारण अविवाहित स्त्रियां, तथा (पत्न्यः) विवाहित स्त्रियां, (मनीषया) बुद्धिपूर्वक, (लोम) भेड़ों की ऊन को (वि चिन्वन्तु) अलग-अलग संचित करें। तथा (देवानाम्) विद्वानों की (पत्न्यः) विदुषी पत्नियां (दिशः) मार्ग-प्रदर्शन की (सूचिभिः) सूचनाओं द्वारा (त्वा) आप को (शम्यन्तु) सुख और शान्ति प्रदान करें ।

[लोम=woolly; woollen (आपटे) अर्थात् ऊनी । वेद में ऊन के सूतों तथा ऊन से वस्त्रों के बुनने का भी वर्णन है। यथा—"सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति" (यजु० १९।८०) अर्थात् सिक्के की ढरकी (Shuttle] द्वारा ऊन के सूत्रों से, मेधावी कारीगर, विचारपूर्वक वस्त्र बुनते हैं। जैसे ऊन के सूतों के कातने के लिये और उन के द्वारा वस्त्र-निर्माण के लिये मेधा और विचार की आवश्यकता है, वैसे ऊन के अलग-अलग चुनने में भी मनीषा की आवश्यकता है । कम्बल, कोट, स्वेटर, जुराब, गर्म चादर आदि के लिये, ऊन को अलग-अलग संचित करने में दक्षता चाहिये । यह भी एक शिल्पकार्य है, जोकि साम्राज्य की रयिवृद्धि करता है, क्रमांक १७४ में "प्रोणुवाथाम्" की व्याख्या इस मन्त्र में "लोम" पद द्वारा की गई है । पूर्वमन्त्रोक्त "रेवत्यः" के दृष्टान्तरूप में, यहां ऊनी शिल्प का वर्णन हुआ है । विद्वानों की पत्नियां राजकार्यों के निर्देश में सहायक होनी चाहियें, इस भावना को "देवानां दिशः पत्न्यः" द्वारा सूचित किया है ।]

१९१. रजता हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते कर्मभिः ।
अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सिमाः शम्यन्तु शम्यन्तीः ॥३७॥

(शम्यन्तीः) सुख और शान्ति देती हुई (रजताः) मोतियों की मालाएं, (हरिणीः) चमेली के पीले फूलों की मालाएं, (सीसाः) सीसे के रंग के सदृश काले-पीले-आसमानी फूलों की मालाएं, (युजः) परस्पर मेल करती हुईं, अर्थात् पारस्परिक शोभा को बढ़ाती हुई, (कर्मभिः)

कारीगरी के कर्मों द्वारा (युज्यन्ते) ग्रथित की जाती हैं। (सिमाः) वे सब (अश्वस्य) अश्वसमान शीघ्रकारी तथा शक्तिशाली, और (वाजिनः) अन्नसम्पत्तिवाले सम्राट् के (त्वचि) शरीर पर (सिमाः) बन्धी हुई (शम्यन्तु) सम्राट् को सुख और शान्ति प्रदान करें।

[सफल सम्राट् के सत्कारार्थ उसे मालाएं पहिनाई जायें। रजताः= रजतम् A pearl necklace (आपटे) अर्थात् मोतामाला। हरिणीः= yellow jasmine (आपटे) चमेली के पीले फूल। सोसाः=साहचर्य की दृष्टि से सोसे के रंग वाले फूल। (त्वचि) मालाएं और वस्त्र शरीर की त्वचा पर ही पहने जाते हैं। मन्त्र में "रजताः" आदि के साथ 'सूचि' शब्द पठित नहीं। इसलिये रजत, सुवर्ण, और सीसे की सूइयों द्वारा अश्व की त्वचा को बींधनारूप अर्थ करना अन्याय है। सिमाः=यह शब्द दो अर्थों का सूचक है—"षिच् बन्धने" धात्वर्थ द्वारा "बान्धना" अर्थ भी अभिप्रेत है, तथा सर्वनाम होने से "सब" अर्थ भी।]

१९२. कुविदङ्ग यवमन्तो यवंञ्चिद् यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूयं।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति ॥३८॥

(अङ्ग) हे सर्वप्रिय! (कुविद्) हे पृथिवी के राज्य को प्राप्त सम्राट् (यथा) जिस प्रकार कि (यवमन्तः) बहुत जौं आदि अन्नों से युक्त खेतियां करनेवाले, (वियूय) पृथक्-पृथक् टोलियां बना कर, (अनुपूर्वम्) क्रम से (यवम चित्) जौं आदि के संचय को (दान्ति) कृषक काटते हैं, ऐसा प्रबन्ध आप कीजिये। तथा (ये) जो (बर्हिषः) राष्ट्रयज्ञ सम्बन्धी (नमः उक्तिम्) अन्न-संग्रहरूपो (यजन्ति) यज्ञ करते हैं, अर्थात् राष्ट्रसेवा को भावना से अन्न-संग्रह करते हैं, (एषाम्) इन के सत्कारार्थ, (इह इह) भिन्न-भिन्न स्थानों में आप (भोजनानि) सहभोजों का (कृणुहि) प्रबन्ध कीजिये।

[अङ्ग=हमारे शरीराङ्गों के सदृश प्रिय! कुविद्=कु (पृथिवी)+ विद् (लाभे)। बर्हिः=बर्हिषः Sacrifice (आपटे) अर्थात् यज्ञ। नमः अन्नाम (निघं० २।७)+ उक्तिम्=उच समवाये+क्तिन्। समवायः संग्रहः। अभिप्राय यह है कि जो भूमिस्वामी परस्पर सहयोग द्वारा बड़े-बड़े खेतों को काटते, और राष्ट्रसेवा के लिये अन्नसंग्रह, यज्ञभावना से करते, निज अनुचित

आर्थिक लाभ के लिये नहीं—उन के सामूहिक सत्कार, सम्राट् स्थान-स्थान पर करे। ताकि राष्ट्र के निमित्त अन्नसंग्रह में उत्तेजना मिले।]

अश्वमेध की राष्ट्रपरक-व्याख्या [६]

१९३. कस्त्वा छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति ।
कऽ उ ते शमिता कविः ॥३९॥

हे सम्राट् ! (कः) कौन (त्वा) आप को (छ्यति) छेदता है, कष्ट पहुंचाता है ? (कः) कौन (त्वा) आप को (विशास्ति) शासनकर्म में शिक्षा देता है ? (कः) कौन (ते) आप के (गात्राणि) अङ्गों को (शम्यति) सुख-शान्ति पहुंचाता है ? तथा (कः उ) कौन निश्चय से (ते) आप का (शमिता) सुख-शान्ति पहुंचानेवाला है ?—[उत्तर] (कविः) वह है कवि=परमेश्वर।

[कविः=कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः' (यजु०४०।८)। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि परमेश्वर ही व्यक्ति के कर्मानुसार कष्ट-जन्म-मृत्यु तथा सुखशान्ति का विधायक है। वही वेदों द्वारा राजकार्य और प्रशासन की शिक्षा का प्रदाता तथा शासक है। अतः हे सम्राट् ! उसी नियन्ता को चित्त में सदा धारण कर शासन कीजिये। गात्राणि=अङ्गों तथा प्रजा आदि अङ्ग। यथा—"विशो मेऽङ्गानि सर्वतः" (यजु० २०।८)। छ्यति=छो छेदने, छिद्रम्।]

१९४. ऋतवस्तऽ ऋतुथा पर्व शमितारो वि शासतु ।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा ॥४०॥

(ऋतवः) वसन्त आदि ऋतुएं, (ऋतुथा) अपने-अपने ऋतुकाल के अनुसार हे सम्राट् ! (ते) आपके (पर्व=पर्वाणि) अङ्गों को (शमितारः) सुख और शान्ति प्रदान करें। तथा ऋतुएं (संवत्सरस्य) वर्षभर (तेजसा) सूर्य के तेज अर्थात् ताप और प्रकाश द्वारा, तथा (शमीभिः) निज शान्ति-प्रद कर्मों द्वारा, (त्वा) आपको (शम्यन्तु) सुख-शान्ति प्रदान करती रहें। तथा (कविः, मन्त्रक्रमांक १९३) परमेश्वर (वि शासतु) विशेषतया आप पर प्रशासन करे, आप को अनुशासित करे।

[शमीभिः=शमी कर्मनाम (निघं २।१)।]

१९५. अ॒र्ध॒मा॒साः परूँ॑षि ते॒ मासा॑ऽ आ च्छ्य॑न्तु॒ शम्य॑न्तः ।
अ॒हो॒रा॒त्राणि॑ म॒रुतो॒ विलि॑ष्टँ सूदयन्तु ते ॥४१॥

हे सम्राट् ! (अर्धमासाः) चान्द्र अर्धमास, (मासाः) और मास, (मरुतः) तथा ऋतु-ऋतु की वायुएँ, (अहोरात्राणि) और दिन-रात, (ते) आपके (परूंषि) अङ्गों को (शम्यन्तः) सुख और शान्ति देते हुये, (आछ्यन्तु) तेरे शारीरिक दोषों को छिन्न-भिन्न करें, तथा (ते) तेरी (विलिष्टम्) विविध शारीरिक कमियों को (सूदयन्तु) दूर करें।

[लिष्टम् = लिश अल्पीभावे। सूदयन्तु = सूद क्षरणे। ऋतुचर्या के अनुसार जीवन को ढाल लेने पर शरीर के दोष कटते, तथा शरीर की कमियां दूर होती हैं—यह सदुपदेश सम्राट् को दिया गया है।]

१९६. दैव्या॑ऽ अध्व॒र्यव॑स्त्वा च्छ्य॑न्तु॒ वि च॑ शासतु ।
गात्रा॑णि पर्व॒शस्ते॒ सिमाः॑ कृण्वन्तु॒ शम्य॑न्तीः ॥४२॥

(दैव्याः) परमेश्वरदेव द्वारा अनुशासित, (अध्वर्यवः) संसारयज्ञ को जुटानेवाले सूर्य चान्द आदि, (त्वा) आप को (आ च्छ्यन्तु) दोषों से रहित करें। और (सिमाः) सब ऋतु-वेलाएँ (पर्वशः) चान्द्र-पर्वों के अनुसार (ते) आपके (गात्राणि) अङ्गों को (शम्यन्तीः) सुख तथा शान्ति देनेवाली हों। (च) और (कविः, मन्त्रक्रमांक १९२) परमेश्वर (विशासतु) विशेषतया आप पर प्रशासन करे।

[अध्वर्यवः = देखो मन्त्र (२३।४३]

१९७. द्यौस्ते॑ पृथि॒व्य॒न्तरि॑क्षं वा॒युश्छि॒द्रं पृ॑णातु ते ।
सूर्य॑स्ते॒ नक्ष॑त्रैः स॒ह लो॒कं कृ॑णोतु साधु॒या ॥४३॥

हे सम्राट् ! (द्यौः) द्युलोक, (पृथिवी) पृथिवी, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, (वायुः) और वायु इन में से प्रत्येक (ते) आप की (छिद्रम्) कमियों की (पृणातु) पूर्ति करे। तथा (सूर्यः) सूर्य, और (नक्षत्रैः सह) नक्षत्रों का सहवासी चन्द्रमा (साधुया) साधु प्रकार से (ते) आप के साम्राज्य में (लोकम्) आलोक अर्थात् प्रकाश (कृणोतु) करे।

[द्युलोक की किरणों अर्थात् cosmic Rays, खुले हवादार, तथा

सूर्य की किरणों से युक्त मकानों, स्वच्छ वायु, चान्द्र प्रकाश—आदि के सेवन से शरीर की शक्तियां बढ़ती तथा स्वास्थ्य प्राप्त होता है। छिद्रम्=दोष, कमी। यथा—"यन्मे छिद्रं चक्षुषो०" (यजु० ३६।२)।]

१९८. शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः ।
शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव ॥४४॥

हे सम्राट्! (ते) आपके (परेभ्यः) श्रेष्ठ ऊपर के (गात्रेभ्यः) अङ्गों के लिये (शम्) सुख-शान्ति (अस्तु) हो, तथा (अवरेभ्यः) नीचे के अङ्गों के लिये (शम्) सुख-शान्ति (अस्तु) हो। (अस्थभ्यः) हड्डियों के लिये, तथा (मज्जभ्यः) हड्डियों की चर्बी के लिये (शम्) सुख-शान्ति हो। और (तव) आप के (तन्वै) समग्र शरीर के लिये (शम् उ) सुख-शान्ति (अस्तु) हो।

[परेभ्यः=सिर, इन्द्रियां, फेफड़े, हृदय आदि। अवरेभ्यः=पेट, टागें हाथ, पैर आदि।]

अश्वमेध की राष्ट्रपरक-व्याख्या [७]

मन्त्र ४५ से ६२ तक, प्रश्नोत्तरों अर्थात् वाकोवाक्य न्याय द्वारा, शिक्षा का वर्णन हुआ है। इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों द्वारा राष्ट्र में शिक्षा का प्रसार करना चाहिये। प्रश्नोत्तरों द्वारा शिक्षा से बुद्धि का विकास होता है—

१९९. कः स्विदेकाकी चरति कऽ उ स्विज्जायते पुनः ।
कि स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत् ॥४५॥

(कः स्वित्) कौन (एकाकी) अकेला (चरति) चलता है? (उ) और (कः स्वित्) कौन (पुनः) फिर-फिर (जायते) उत्पन्न होता है? (किं स्वित्) क्या (हिमस्य) शैत्य या बर्फ की (भेषजम्) औषध है? (किम् उ) और क्या (महत्) बड़ा (आवपनम्) बीज बोने का स्थान है?

२००. सूर्यऽ एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥४६॥

(सूर्यः) सूर्य (एकाकी) अकेला (चरति) स्वपरिधि में घूमता है। (चन्द्रमाः) आनन्द देनेवाला चन्द्रमा (पुनः) फिर-फिर (जायते) उत्पन्न होता है। (अग्निः) आग (हिमस्य) शैत्य अथवा बर्फ की (भेषजम्) औषध है। (भूमिः) भूमि (महत्) बड़ा (आवपनम्) बीज बोने का स्थान है।

[हिम=हिम अर्थात् शैत्य तथा बर्फ। अग्नि के सेवन से शैत्य दूर होता, तथा अग्नि के द्वारा बर्फ पिघल जाती है। **चन्द्रमाः=चदि आह्लादने।**]

२०१. किँ स्वि॒त्सूर्य॑सम॒ं ज्योति॒: किँ स॑मु॒द्रस॑म॒ँ सर॑:।
किँ स्वि॒त्पृ॑थि॒व्यै॒ वर्षी॑यः॒ कस्य॒ मात्रा॒ न वि॑द्यते ॥४७॥

(किं स्वित) कौन (सूर्यसमम्) सूर्य के समान (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप है? (किम) कौन (समुद्रसमम्) समुद्र के समान (सरः) तालाब है? (किं स्वित्) कौन (पृथिव्यै) पृथिवी से (वर्षीयः) बड़ा है? (कस्य) किस का (मात्रा) माप-तौल (न विद्यते) विद्यमान नहीं है?

२०२. ब्र॒ह्म सूर्य॑सम॒ं ज्योति॒र्द्यौः स॑मु॒द्रस॑म॒ँ सर॑:।
इन्द्र॑: पृथि॒व्यै वर्षी॑या॒न् गोस्तु मात्रा॒ न वि॑द्यते ॥४८॥

(ब्रह्म) सब से बड़ा अनन्त परमेश्वर (सूर्यसमम्) सूर्य के समान (ज्योतिः) स्वप्रकाशस्वरूप है। (द्यौः) द्युलोक (समुद्रसमम्) समुद्र के समान (सरः) तालाब है। (इन्द्रः) विद्युत् (पृथिव्यै) पृथिवी से (वर्षीयान्) बड़ी है, (गोः) वाणी का (तु) तो (मात्रा) माप-तोल (न विद्यते) विद्यमान नहीं है।

[**द्यौः=महर्षि दयानन्द ने 'द्यौः' का अर्थ किया है—अन्तरिक्ष।** क्योंकि द्यौः को समुद्रसम तालाब कहा है। समुद्र में जल नदियों द्वारा आते, और मेघरूप में अन्तरिक्ष में जाते हैं। इसी प्रकार भाप बन कर जल अन्तरिक्ष में जाते और वर्षारूप में फिर वापिस आते हैं। द्युलोक अर्थ में द्युलोक से प्रकाशप्रवाह आता, और सूर्यास्त पर मानो द्युलोक में लौट जाता है। इन्द्रः=विद्युत्। वह पृथिवी में व्याप्त है, तथा पृथिवी से अतिरिक्त वायु और द्युलोक में भी व्याप्त होने से पृथिवी से बड़ी है। **गोः=गौः वाङ्नाम (निघं० १।११)।**]

२०३. पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।
येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमा विवेश ॥४९॥

(देवसख) हे दिव्यगुणियों तथा ज्ञानद्युति-सम्पन्नों के सखा परमेश्वर! (चितये) सम्यक्-ज्ञान के लिये (त्वा) आप को (पृच्छामि) पूछता हूँ, (यदि) जो आप (अत्र) इस मेरे हृदय में (मनसा) स्वेच्छया (आ जगन्थ) आए हैं, आ प्रकट हुए हैं, कि (येषु) जिन (त्रिषु) तीन (पदेषु) स्थानों में (विश्वम्) समस्त (भुवनम्) सत्-जगत् (आ विवेश) पूर्णतया प्रविष्ट है, (तेषु) उन्हीं तीन स्थानों में क्या (विष्णुः) व्यापक आप परमेश्वर (एष्टः=आ इष्टः) प्राप्त है ?

[देवसखः=देवः द्योतनात् (निरु० ७।४।१५) । चितये=चिती संज्ञाने। एष्टः=आ+इष् (गतौ, प्राप्तौ)। मन्त्र ५० में परमेश्वर ने उत्तर दिया है। अतः मन्त्र ४९ में परमेश्वर से प्रश्न पूछा गया प्रतीत होता है। व्याप्ति तीन प्रकार की होती है—कालिक अर्थात् कालसम्बन्धी, दैशिक अर्थात् दिग्देश-सम्बन्धी, तथा प्रतिवस्तुसम्बन्धी। मन्त्र में दैशिक व्याप्ति के सम्बन्ध में प्रश्न है। परमेश्वर से पूछा गया है कि जिन तीन प्रदेशों अर्थात् स्थानों में समस्त जगत् अर्थात् तीन लोक प्रविष्ट हैं, उन्हीं तीन स्थानों में क्या आप विद्यमान हैं, या उनसे अन्यत्र भी आप की स्थिति है ?]

२०४. अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमा विवेश।
सद्यः पर्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवोऽ अस्य पृष्ठम्॥५०

(तेषु) उन (त्रिषु पदेषु) तीन स्थानों में (अपि) भी (अस्मि) मैं विद्यमान हूँ, (येषु) जिन में (विश्वम्) समस्त (भुवनम्) सत्-जगत् (आ विवेश) पूर्णतया प्रविष्ट है। (पृथिवीम्) पृथिवी को, (उत द्याम् और द्युलोक को, तथा (अस्य) इस जगत् के (दिवः) द्युलोक के (पृष्ठम्) ऊपर के भाग को (एकेन अङ्गेन) एक अङ्ग द्वारा (सद्यः) शीघ्र ही (पर्येमि) मैं घेर[1] लेता हूँ।

---

१. घिरी वस्तु के परिमाण की अपेक्षा घेरनेवाली वस्तु का परिमाण अधिक होता है। परमेश्वर के एक पाद की व्याप्ति द्वारा समस्त जगत् घिरा हुआ है। यह एक पाद ही समस्त त्रिलोकी तथा उस के तीनों स्थानों से बड़ा है। अतः परमेश्वर के शेष तीन पादों में तो जगत् की सत्ता असम्भव ही है।

[परमेश्वर उत्तर देता है कि उन तीन स्थानों में तो मैं विद्यमान हूँ ही, अपि तु पृथिवी आदि तीन लोकों, तथा द्युलोक के ऊपर के भागों में भी व्याप्त होकर इस त्रिलोकी को मैं घेरे[1] हुए हूँ, इन की सुरक्षा के लिये। एकेन अङ्गेन=परमेश्वर का वर्णन चतुष्पाद्‌रूप में हुआ है। परमेश्वर के एक अङ्ग अर्थात् एक पाद में तो समस्त भूतभौतिक जगत् विद्यमान है, यथा—"पादोऽस्य विश्वा भूतानि" (यजु० ३१।३)। तथा त्रिपाद्‌रूप में परमेश्वर, जगत् की रचना आदि से, 'ऊर्ध्व" अर्थात् पृथक् है। यथा —"त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः"(यजु० ३१।४)। सद्यः= जगत् की उत्पत्ति के तत्काल ही परमेश्वर सर्वव्यापक है। जिस-जिस स्थान में जगत् उत्पन्न होता है,उस-उस स्थान में तो परमेश्वर पूर्वतः विद्यमान ही है। अतः जब जगत् उत्पन्न होता है, तब तत्काल परमेश्वर का उसमें "अनुप्रवेश" हो जाता है। उपनिषद् ने इस तथ्य को "अनुप्राविशत्" द्वारा निर्दिष्ट किया है (छान्दोग्य उप० अ० ६, खं० ३)।]

२०५. केष्वन्तः पुरुष आ विवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतद् ब्रह्मन्नुप वल्हामसि त्वा किं स्विन्नः प्रति वोचास्यत्र॥
५१॥

(केषु अन्तः) किनके भीतर (पुरुषः) सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वर (आ विवेश) पूर्णतया प्रवेश किये हुए है ? (कानि) कौन (पुरुषे अन्तः) पूर्ण ईश्वर के भीतर (अर्पितानि) समर्पित किये हुए हैं ?। (ब्रह्मन्) हे वेदज्ञ विद्वन् ! (एतत्) यह (त्वा) आप को (उपवल्हामसि) हम पूछते हैं। (अत्र) इस विषय में (किं स्वित्) क्या ज्ञातव्य है, सो आप (नः) हमारे (प्रति) प्रति (वोचासि) कहिये।

[ब्रह्मन्=सम्भवतः ब्रह्मा और सम्राट् में परस्पर संवाद है। वल्ह भाषार्थः।]

२०६. पञ्चस्वन्तः पुरुष आ विवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत्॥५२

(पञ्चसु अन्तः) पांच भूतों और उन की सूक्ष्म मात्राओं के भीतर (पुरुषः) पूर्ण परमेश्वर (आ विवेश) पूर्णतया प्रविष्ट हुआ-हुआ है।(तानि)

१. द्रष्टव्य—पूर्वपृष्ठ १२२ की टि० सं० १।

वे पञ्चभूत और सूक्ष्म तन्मात्राएं (पुरुषे) पूर्ण परमेश्वर में (अर्पितानि) समर्पित हैं। (मन्वानः) ज्ञानवान् मैं (अत्र) इस विषय में (त्वा प्रति) आप के प्रति (एतत्) यह उत्तर कहता (अस्मि) हूं। (मायया) ज्ञान की दृष्टि से आप (मत्) मुझ से (उत्तरः) उत्कृष्ट (न) नहीं हैं।

[माया प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)। ब्रह्मा सम्राट् के प्रति कहता है कि वैदिक विषयों के ज्ञान की दृष्टि से तो मैं उत्कृष्ट हूँ और शासन के विषयों में आप उत्कृष्ट हैं।]

२०७. का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किꣳ स्विदासीद् बृहद् वयः।
का स्विदासीत् पिलिप्पिला का स्विदासीत् पिशङ्गिला॥५३॥

मन्त्र मैं पूर्वचित्तिः, बृहद् वयः पिलिप्पिला और पिशङ्गिला सम्बन्धी चार प्रश्न हैं।

२०८. द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽ आसीद् बृहद् वयः।
अविरासीत् पिलिप्पिला रात्रिरासीत् पिशङ्गिला॥५४॥

(द्यौः) द्युति-सम्पन्ना बिजुली (आसीत्) होती है (पूर्वचित्तिः) सृष्टि के आरम्भ में प्रथम सचित; (अश्वः) व्याप्त महत्तत्व (आसीत्) होता है (बृहद्) बड़ा (वयः) उत्पन्न पदार्थ; (अविः) रक्षा करनेवाली प्रकृति (आसीत्) होती है (पिलिप्पिला) उत्पादनोन्मुख चिकनी मिट्टी के सदृश; (रात्रिः) रात्रि के समान वर्त्तमान प्रलय की महारात्री (आसीत्) होती है (पिशङ्गिला) सब अवयवों को निगलनेवाली।

[महर्षि दयानन्द के अर्थ और भावार्थ के अनुसार—"अतिसूक्ष्म विद्युत् है प्रथम परिणाम, महत्तत्वस्वरूप है द्वितीय परिणाम, प्रकृति है सब का मूल कारण, और प्रलय सब स्थूल जगत् का निवासरूप है" (भावार्थ से)। अश्वः=अशूङ् व्याप्तौ। वयः=वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु। "वयः" में "वी" धातु का प्रजन अर्थ अभिप्रेत है।]

२०९. काऽ ईमरे पिशङ्गिला काऽ ईं कुरुपिशङ्गिला।
कऽ ईमास्कन्दमर्षति कऽ ईं पन्थां वि सर्पति॥५५॥

(अरे) हे (का) कौन (पिशङ्गिला) रूपों-आकृतियों को निगलती है? (का) कौन (कुरुपिशङ्गिला) की हुई खेती के अवयवों को निगलती

है विनष्ट करती है ? (कः) कौन (आस्कन्दम्) कूद-कूद कर (अर्षति) चलता है ? (कः) कौन (पन्थाम्) मार्ग पर (वि सर्पति) सरकता है ?

[ईम्=पादपूरक । यथा—"पादपूरणास्ते मिताक्षरेषु अनर्थकाः, कम्, ईम्, इत् उ" (निरुक्त० १।३।६) ।]

२१०. अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला ।
शशऽ आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति ॥५६॥

(अरे) हे (अजा) जन्मरहित प्रकृति (पिशङ्गिला) विश्व के रूपों-आकृतियों को प्रलय-समय में निगलती है। (श्वावित्) सेही (कुरुपिशङ्गिला) की-हुई खेती के अवयवों को निगलती=विनष्ट करती है।(शशः) खरगोश (आस्कन्दम्) कूद-कूद कर (अर्षति) चलता है, (अहिः) सांप (पन्थाम्) मार्ग में (विसर्पति) विविध गतियों से सरकता है, अथवा अहि अर्थात् मेघ अन्तरिक्ष में विविध प्रकार से गति करता है।

[पिशङ्गिला=पेशः रूपनाम (निघं० ३।७)। पिश्=To shape, fashion, f..r (आपटे) । अहिः=सांप; तथा मेघ (निघं० १।१०) । तथा अहिः उदकनाम (निघं० १।१२), अर्थात् "अहि" उदक विविध मार्गों में सरक जाता है।]

२११. कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः ।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतारऽ ऋतुशो यजन्ति।५७

(अस्य) इस संसाररूप यज्ञ के (कति) कितने (विष्ठाः) विशेष कर स्थितिस्थान हैं ? (कति) कितने (अक्षराणि) अक्षर हैं ? (कति) कितने (होमासः) होम हैं ? (कतिधा) कितने प्रकार के पदार्थों द्वारा (समिद्धः) यह जगत् प्रदीप्त है, प्रकाशित है ? (कति) कितने (होतारः) होता आदि (यज्ञस्य) संसारयज्ञ के हैं, जो कि (ऋतुशः) ऋतु-ऋतु में (यजन्ति) संसारयज्ञ को रचा रहे है ? (अत्र) इन प्रश्नों के सम्बन्ध में (विदथा) ज्ञानों को (त्वा) आप से (पृच्छम्) मैं पूछता हूँ ।

२१२. षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः ।
यज्ञस्य ते विदथा प्र ब्रवीमि सप्त होतारऽ ऋतुशो यजन्ति ॥५८

(अस्य) इस संसाररूप यज्ञ के (षट्) ६ (विष्ठाः) विशेषकर स्थितिस्थान हैं, (शतम्) १०० (अक्षराणि) अक्षर हैं, (अशीतिः) ८० (होमाः) होम हैं, (ह) निश्चय से (तिस्रः) ३ (समिधः) समिधाएँ हैं [जोकि इस संसारयज्ञ को प्रदीप्त कर रही हैं], (सप्त) ७ (होतारः) होता है, जो कि (ऋतुशः) प्रत्येक ऋतु में (यजन्ति) संसार-यज्ञ को रचा रहे हैं, इसे परस्पर में संगत कर रहे हैं, (ते) आप को (यज्ञस्य) संसार-यज्ञ के (विदथा) विज्ञानों का (प्रब्रवीमि) मैं प्रवचन करता हूं।

[मन्त्रोक्त तत्त्व विशेष अनुसन्धान के योग्य हैं। **षड् विष्ठाः = जगत्रूप यज्ञ में छः ऋतु जगत् की स्थिति के साधक हैं** (म० दयानन्द, भावार्थ)। **शतम् अक्षराणि = सैंकड़ों या असंख्य** (म० दयानन्द) सौरमण्डल हैं, जो कि अपने-अपने अक्षों[1] पर घूमते हुए संसार-यज्ञ को रचा रहे हैं ? **समिधः तिस्रः =** सत्त्व रजस् और तमस्—ये तीन संसार को प्रदीप्त करने वा प्रकाशित करने-वाले समिधारूप हैं ? **सप्त होतारः = महत्त्व**, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्राएं, जो कि विकृतिरूप तथा प्रकृतिरूप हैं, वे संसार-यज्ञ के रचाने में अपनी-अपनी आहुतियां दे रहे हैं ? **महदादयः प्रकृतिविकृतयः सप्त**"। **अशीतिः होमाः?** (अनु-सन्धान योग्य है)।]

२१३. कोऽ अस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवीऽ अन्तरि-क्षम्। कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥५९॥

(अस्य) इस (भुवनस्य) उत्पन्न संसार की (नाभिम्) नाभि अर्थात् बान्धनेवाले को (कः) कोन (वेद) जानता है ? (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक, तथा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष के स्वरूपों को (कः)

---

१. अथवा जो मानो अक्षीण न क्षीण होनेवाले संसारयज्ञ को रचा रहे है। इन सैंकड़ों सौर-मण्डलों को अक्षर अर्थात् "न क्षीण होनेवाले" कहा है, क्योंकि यावत्-काल सृष्टि की सत्ता है, तावत्काल इन सौरमण्डलों की भी सत्ता है। चिरस्थायी होने के कारण ये अक्षर हैं।

अथवा सैंकड़ों या असंख्य अक्षर अर्थात् अविनाशी जीवात्माओं के भोग और मोक्ष के लिये संसार रचा गया है। इस लिये संसार की रचना में जीवात्मा कारण-रूप हैं। **जीवात्मा अक्षर हैं** (गीता १५।१६)।

कौन जानता है ? (बृहतः) बड़े (सूर्यस्य) सूर्यमण्डल के (जनित्रम्) उपादान और निमित्तकारण को (कः) कौन जानता है ? (कः) कौन (वेद) जानता है (चन्द्रमसम्) चन्द्रमा को (यतोजाः) जहां से वह उत्पन्न हुआ है ?

२१४. वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवीऽ अन्तरिक्षम् ।
वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥६०॥

(अहम्) मैं (अस्य) इस (भुवनस्य) उत्पन्न संसार के (नाभिम्) बान्धनेवाले को (वेद) जानता हूँ, (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी-लोक। तथा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षलोक के स्वरूपों को (वेद) मैं जानता हूँ। (बृहतः) बड़े (सूर्यस्य) सूर्य के (जनित्रम्) उत्पादक को (वेद) मैं जानता हूँ, (अथ उ) और (चन्द्रमसम्) चन्द्रमा को (वेद) मैं जानता हूँ, (यतोजाः) जिस से यह पैदा हुआ है।

[नाभिम्=नह बन्धने; बन्धन का कारण । नाभिः=नह्यति बध्नातीति नाभिः (उणा० ४।१२७) । पृथिवी, सूर्य, चान्द, ग्रह, नक्षत्र, तारागण, परस्पर बन्धे हुए अपने-अपने स्थानों का परित्याग नहीं करते । परमेश्वर ने पारस्परिक आकर्षण द्वारा इन्हें परस्पर बान्धा हुआ है। सूर्य का जनक भी परमेश्वर ही है । चन्द्रमा सूर्य से पैदा हुआ (मन्त्र क्रमांक २१६) ।

[मन्त्र में ब्रह्मा ने सम्राट् को उत्तर दिया है।]

२१५.पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णोऽअश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥६१॥

(पृथिव्याः) पृथिवी की (परम् अन्तम्)परम अवधि कहां होती है ? यह (त्वा) आप को (पृच्छामि) मैं पूछता हूँ, (यत्र) जहां (भुवनस्य) उत्पन्न प्राणीजगत् का (नाभिः) बन्धन है, उस के सम्बन्ध में (पृच्छामि) मैं पूछता हूँ। (वृष्णः) वर्षाकारी (अश्वस्य) किरणों द्वारा व्याप्त सूर्य का (रेतः) वीर्यरूप कौन है ? (त्वा) आप को (पृच्छामि) मैं पूछता हूँ। (वाचः) वेदवाणी का (परमम्) सर्वोत्तम (व्योम) रक्षास्थान कौनसा है? यह (पृच्छामि) मैं पूछता हूँ ।

२१६.इयं वेदिः परोऽ अन्तः पृथिव्याऽ अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयँ सोमो वृष्णोऽ अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥६२॥

(इयम्) यह (वेदिः) वेदि (पृथिव्याः) पृथिवी की (परः) परम (अन्तः) अवधि या सीमा है, (अयम) यह (यज्ञः) यज्ञ (भुवनस्य) उत्पन्न प्राणी जगत् का (नाभिः) बन्धन है। (अयम्) यह (सोमः) चन्द्रमा (वृष्णः) वर्षाकारी (अश्वस्य) किरणों द्वारा व्याप्त सूर्य का (रेतः) वीर्य-रूप है, उस से उत्पन्न हुआ है। (अयम्) यह (ब्रह्मा) चतुर्वेदवेत्ता (वाचः) वेदवाणी का (परमम्) परम (व्योम) तथा विशेष रक्षक है।

[नाभिः=भुवन की नाभि के सम्बन्ध में मन्त्र २१३ और २१४ में प्रश्नोत्तर हो चुके हैं। अतः मन्त्र २१५ और २१६ में भुवन की नाभि का पूर्वोक्त अभिप्राय से अन्य अभिप्राय अभिप्रेत है। वेदि और यज्ञ शब्दों के प्रयोग से प्रतीत होता है कि इन शब्दों द्वारा यहाँ यज्ञिय वेदि और "सामग्री-साध्य यज्ञ" अर्थ ग्रहण करने चाहियें। वेदानुसार पृथिवी गोल है। गोल का प्रत्येक विन्दु उस की परम अवधि होती है। इस लिये श्रेष्ठस्थान वेदि के स्थान को परम अवधि कह दिया है। यज्ञों द्वारा वायु-जल आदि की शुद्धि होती, और वर्षा से अन्न उत्पन्न होता, और तदनन्तर प्राणि जगत् नाभि-बन्धन से उत्पन्न होता तथा जीवित रहता है। इसलिये यज्ञ को नाभि कहा है। सोमः=चन्द्रमा (उणा० १।१४०) महर्षि दयानन्द। अश्वस्य= "एको अश्वो वहति सप्तनामा" (ऋ० १।१६४।२), तथा "एकोऽश्वो वहति सप्त-नामादित्यः" (निरुक्त० ४।४।२७), अतः अश्वः=आदित्यः। ब्रह्मा=देखो मन्त्र १६७; १६८; १७६; २०५। व्योम=वि+अव (रक्षणे)। अथवा व्योम=व्ययति संवृणोतीति व्योम, अर्थात् वेदवाणी का संवरण करनेवाला (उणा० ४।१५२), चतुर्वेदवेत्ता ब्रह्मा।]

अश्वमेध की राष्ट्रपरक-व्याख्या [८]

२१७. सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे।
दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः ॥६३॥

(सुभूः) उत्तम अर्थात् त्रैकालिक सत्तावाला, (स्वयम्भूः) स्वयम् अर्थात् स्वाश्रित सत्तावाला, (प्रथमः) अनादि परमेश्वर मैं, (महति अर्णवे) महा जलवाले आकाश-समुद्र में, (ऋत्वियम्) समयानुकूल प्राप्त (गर्भम्) निजकामनारूपी बीज का (दधे) आधान करता हूं, (यतः) जिस बीजा-धान से (प्रजापतिः) मैं परमेश्वर, प्रजापतित्वस्वरूप में (जातः) प्रकट होता हूं, प्रसिद्ध होता हूं।

[उपनिषद् के अनुसार परमेश्वर से आकाश, तदनन्तर वायु, तत्पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् आपः (जल), फिर पृथिवी, ओषधियां, अन्न, रेतस् और पश्चात् प्रजा उत्पन्न हुई। प्रजा के उत्पन्न होने पर परमेश्वर का प्रजापतित्व स्वरूप प्रकट हुआ, ज्ञात हुआ। प्रत्येक पूर्ववर्ती कारणरूपी तत्त्व में, परमेश्वरीय कामनारूपी बीज का आधान होता है। तदनन्तर उत्तरोत्तर कार्यरूपी तत्त्व उत्पन्न होता है। "**अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्**" (मनु०)।]

२१८. **होता यक्षत्प्रजापतिꣳ सोमस्य महिम्नः।**
जुषतां पिबतु सोमꣳ होतर्यज ॥६४॥

(होता) आत्मसमर्पक उपासक, जैसे (सोमस्य) सब ऐश्वर्य की (महिम्नः) महिमा से सम्पन्न, (प्रजापतिम्) सकल प्रजाओं के स्वामी को (यक्षत्) पूजा करता है, और (जुषताम्) सेवा द्वारा उसे प्रसन्न करता, तथा (सोमम्) उस स्वामी के दिये सोम आदि ऐश्वर्यों का (पिबतु) भोग करता है, वैसे (होतः) आत्मसमर्पण करनेवाले हे नवीन उपासक! तू भी (यज) प्रजापति की पूजा किया कर।

[होता=हु दाने, अदने च।]

२१९. **प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।**
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥
६५॥

(प्रजापते) हे सब प्रजा के रक्षक स्वामिन् ईश्वर! कोई भी (त्वत्) आप से (अन्यः) भिन्न, (ता) उन (एतानि) इन पृथिव्यादि भूतों, तथा (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपयुक्त वस्तुओं पर (न परि बभूव) सर्वोपरि नहीं हुआ है। (यत्कामाः) जिस-जिस पदार्थ की कामनावाले होकर (वयम्) हम आप की (जुहुमः) प्रशंसा करें, या आप के प्रति आत्मसमर्पण करें, (तत्) वह-वह कामना के योग्य वस्तु (नः) हम को (अस्तु) प्राप्त हो। (ते) आप की कृपा से हम लोग (रयीणाम्) विद्या सुवर्ण आदि धनों के (पतयः) रक्षक तथा स्वामी (स्याम) होवें।

[विशेष वक्तव्यः—२३ वें अध्याय में "**राष्ट्रं वा अश्वमेधः**" के अनु-

सार राष्ट्रिय भावनाओं का वर्णन हुआ है । इन राष्ट्रिय भावनाओं के अनुसार राष्ट्र का सुशासन करना ही, आधिभौतिक दृष्टि से 'अश्वमेध' है। राष्ट्र के शासक, परमेश्वर को हृदयस्थ जान कर, उस की दर्शाई वैदिक विधि द्वारा राष्ट्र का शासन कर सकें, एतदर्थ मन्त्र एक से ६ तक परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन किया है। और शासकों के लिये योगाभ्यास और तद्-द्वारा इन्द्रिय-संयम आवश्यक दर्शाया है। इसी प्रकार २३ वें अध्याय के ६३, ६४ और ६५ मन्त्रों में भी परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन कर, उस के यजन करने का उपदेश, राष्ट्राधिकारियों को दिया है। ताकि वे परमेश्वर को साक्षी जानकर राष्ट्रयज्ञ को सुचारुरूप में रचा सकें।]

—:o:—

अश्वमेध की आदित्यपरक[1] व्याख्या [१]

(अ० २५ । मं० २४-४५)

२२०. मा नो मित्रो वरुणोऽ अर्यमायुरिन्द्रऽ ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन् । यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि ॥२४॥

(मित्रः) अन्य राष्ट्रों के साथ मैत्रीसम्बन्ध स्थापित करनेवाला राज्याधिकारी, (वरुणः) प्रान्तिक राज्य का राजा, (अर्यमा) न्यायाधीश, (आयुः) आयुर्वेदवेत्ता स्वास्थ्याधिकारी, (इन्द्रः) सम्राट्, (ऋभुक्षाः) सत्यजीवनोंवाले राष्ट्रनिवासी महात्मा लोग, अथवा सत्य की ज्योति से प्रकाशमान राष्ट्रनिवासी महात्मालोग, (मरुतः) सैनिक तथा सेनाधिकारी (नः) हमारी (मा परिख्यन्) न परिख्याति करें (यत्) जबकि (वाजिनः) बलशाली तथा अन्नोत्पादक, (देवजातस्य) द्युलोक के द्युतिसम्पन्नों में प्रसिद्ध, या परमेश्वर देव द्वारा उत्पन्न, (सप्तेः) द्युलोक में सर्पण करनेवाले सूर्य के (वीर्याणि) बलों का, (विदथे) अश्वमेधयज्ञ में, हम (प्रवक्ष्यामः) प्रवचन करेंगे।

[मित्रः=मेदयतेर्वा (निरु० १०।२।२१), मित्रः=ञिमिदा स्नेहने । स्नोर्द्र-

---

१. एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति । तस्य संवत्सर आत्मा (बृ० उप० अ०-१, ब्रा०२) ।

हृदयवाला अधिकारी। वरुणः, इन्द्रः = इन्द्रश्च सम्राड्, वरुणश्च राजा (यजु० ८।३७)। अर्यमा = न्यायाधीश। ऋभुक्षाः = महात्मा (महर्षि दयानन्द)। ऋभुः = ऋभव ऋतेन भान्तीति वा, भवन्तीति वा (निरु० ११।२।१६)। तथा ऋभुक्षाः = ऋभु + क्ष (क्षि निवासे)। मरुत[1]: = म्रियते मारयति वा मरुत् (उणा० १।९४)। यथा—"असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति नऽ ओजसा स्पर्धमाना। तां गूहत तमसापव्रतेन यथामीऽ अन्यो अन्यं न जानन्"। (यजु० १७।४७)। वाजिनः = वाजः बलनाम (निघं० २।९); अन्ननाम (निघं० २।७)। सप्तेः = सरणस्य (निरु० ६।१।२), सृप् गतौ। विदथे = यज्ञनाम (निघं० ३।१७)। अश्वमेध में अश्व के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने पर ख्याति की सम्भावना (परिख्यन्[1])।][2]

२२१. यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति।
सुप्राङजो मेम्यद् विश्वरूपऽ इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः॥ २५॥

(निर्णिजा) शोधक और पोषक, (रेक्णसा) सुवर्ण की प्रभावाले रश्मिसमूह द्वारा (प्रावृतस्य) पूर्णतया आवृत, अर्थात् ढके हुए सूर्यसम्बन्धी (गृभीताम्) प्राप्त किये (रातिम्) दान को, (मुखतः) वर्षमुख अर्थात् वर्ष के प्रारम्भ में (यत्) जब (नयन्ति) प्रजाजन प्राप्त करते हैं, तब (सुप्राङ् = सु प्राक्) ठीक पूर्व में (मेम्यत्) प्राप्त हुई, (विश्वरूपः) और विश्व को नया रूप देनेवाली (अजः) मेषराशि, (इन्द्रापूष्णोः) विद्युत् सम्बन्धी और पवन या रश्मियों से परिपुष्ट सूर्यसम्बन्धी, (प्रियम्) वाञ्छनीय (पाथः) अन्न (अप्येति) प्राप्त कराती है। सूर्य और पवन की गर्मी बढ़ने पर गेहूँ, जौं तथा चने आदि अन्न प्राप्त होते हैं। इस काल में जलीय वाष्पीभवन द्वारा अन्तरिक्ष में विद्युत्संघर्ष भी होता है।

[निर्णिजा = निर् + णिजिर् शौचपोषणयोः। रेक्णसा = रेक्णः = सुवर्णम् (उणा० ४।२००)। मुखतः = मुखे, सार्वविभक्तिकः तसिः। मुखम् = Begining, commencement (आपटे), अर्थात् प्रारम्भ में। सुप्राङ् = ठीक पूर्व (Due--east), अर्थात् ठीक भूमध्यरेखा। इस भूमध्यरेखा पर सूर्योदय लगभग २१ मार्च को होता है, और २१ मार्च को सूर्य मेषराशि में प्रवेश करता

१. तथा—मरुतः = ऋत्विजः (निघं० ३।१८)।

२. परिख्यातिः = fame, Reputation (आपटे)।

है। २१ मार्च से पहिले और पीछे सूर्य भूमध्यरेखा के दक्षिण और उत्तर में उदित होता है। इस ठीक भूमध्यरेखा पर जब सूर्योदय होता है, तब देसी वर्ष चैत्र मास द्वारा प्रारम्भ होता है। यह सूर्योदय-दिन वर्षमुख है। अजः="अज" का अथ है—बकरा। वेदमन्त्र में मेषराशि को अजराशि कहा है। अर्थात् बकरे की आकृतिवाली राशि। अजः=The sign aries (आपटे), अर्थात् मेषराशि। मेषराशि को "अज" इसलिये कहा है कि इस राशि में जब सूर्य होता है, तब शीतकाल की सर्दी तथा शीतकाल के अन्धकार का क्षेपण अर्थात् दूरीकरण हो जाता है। अज गतिक्षेपणयोः। मेम्यत्=मी गतौ, प्राप्तौ। गतेः त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गतिः प्राप्तिश्च। विश्वरूपः=अज-राशि या मेषराशि पर जब सूर्योदय होता है, तब मार्च या चैत्रमास, वसन्त-ऋतु का प्रारम्भ मास होता है। वसन्त ऋतु विश्व को नवीन रूप प्रदान करती है—'ऋतूनां कुसुमाकरः (गीता)। पाथः अन्नम् (उणा० ४।२०६); तथा उदकम् (उणा० ४।२०५)। प्रियम् पाथः=अन्न सब को प्रिय है, अन्न के विना जीवन असम्भव है। नूतन वर्ष के प्रारम्भ में विद्युत् पवन तथा रश्मियों से परिपुष्ट सूर्य द्वारा प्रिय-अन्न के उत्पादन की सम्भावना दृढ़ होती है। इन्द्र =विद्युत्। यथा—वायुर्वा इन्द्रो वा मध्यमस्थानः (निरु०७।२।५)। इन्द्र अर्थात् विद्युत् का कार्य है—अन्न-प्रदान। यथा—"इन्द्रः इरां (अन्नम्) ददातीति वा, इरां (अन्नम्) दधातीति वा" (निरु०१०।२।८)। इन्द्र, इरा अर्थात् अन्न को देता है, तथा अन्न को परिपुष्ट करता है। पूषा=पूषति वर्द्धतेऽसौ पूषा, सूर्यो वायुर्वा (उणा० १।१५९) महर्षि दयानन्द। तथा—'यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति=सूर्यः" (निरु०१२।२।१८)। विद्युत् पवन तथा परिपुष्ट रश्मियों से युक्त सूर्य, वर्षा आदि के प्रदान द्वारा अन्नोत्पादक हैं।]

२२. एष छार्गः पुरोऽ अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः। अभिप्रियं यत्पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेनँ सौश्रवसाय जिन्वति ॥२६॥

(पूष्णः) रश्मियों से परिपुष्ट सूर्य का (भागः) सेवनीय स्थान, (विश्वदेव्यः) जो कि राशिचक्र के सब द्युतिमान् नक्षत्रादि का हितकारी है, या नक्षत्रादि में उत्तम है, अर्थात् (एषः) यह (पुरः) पुरःस्थित अर्थात् सूर्य के संमुखस्थित (छागः) छाग अर्थात् मेषराशि, (वाजिना) बलशाली तथा अन्नोत्पादक, तथा (अर्वता) सर्वप्रेरक, (अश्वेन) किरणों से व्याप्त सूर्य द्वारा (नीयते) जब प्राप्त की जाती है। (अभिप्रियम्) तब

सब को प्रिय (यत्) जो (पुरोडाशम्) पुरोडाश है, उस की तरह गोलाकृतिवाले (एनम्) इस सूर्य को (त्वष्टा) कारीगर परमेश्वर (इत्) ही (सौश्रवसाय) उत्तम अन्नों के उत्पादन के लिये (जिन्वति) पालता है।

[**छागः[1]=इसे मन्त्र क्रमांक २२१ में अजः कहा है। छागः=छो छेदने।** अज या छाग अर्थात् मेषराशि, सूर्य की किरणों द्वारा शीतकाल के शैत्य और अन्धकार को छिन्न-भिन्न करती है, इसलिये इसे छाग' कहते हैं। **छागः=छिन्त्तीति छागः, बर्करो वा** (उणा० १।१२४) महर्षि दयानन्द। तथा छागः=The sign Aries of the zodiac (**आप्टे**), अर्थात् राशिचक्र का विभाग, मेषराशि। पुरः=सूर्य जब मीन राशि में होता है,तब मेषराशि उस के पुरःस्थित होती है, जिस ओर कि उसने प्रस्थान करना है। **अश्वेन =अशूङ् व्याप्तौ, किरणों से व्याप्त सूर्य। वाजिना=देखो** (मन्त्रक्रमांक २२०)। **अर्वता=अर्वा ईरणवान्** (निरु० १०।६।३१), **ईरणवान=प्रेरणा देनेवाला। विश्वदेव्यः=मेषराशि राशिचक्र की प्रथम राशि है,** जिस पर आया सूर्य वसन्त ऋतु का निर्माण करता है। सूर्य जैसे-जैसे अगली-अगली राशि में पहुँचता है, वैसे-वैसे वह अगली-अगली ऋतुओं का भी निर्माण करता है। अगली-अगली राशि में पहुंचने के लिये मेषराशि सूर्य के लिये द्वाररूप है। **अतः** मेषराशि अन्य राशियों के लिये हितकर या उत्तम कही गई है। पुरोडाश =कपालों पर अग्नि द्वारा पकाया गया, गोलाकृति का पीठी का गोलकेक (cake) अर्थात् भटूरा। **सौश्रवसाय=सु (उत्तम)+श्रवस् (अन्नम्); श्रवः, अन्ननाम** (निघं० २।७)।]

२२३. **यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति।**
अत्रा पूष्णः प्रथमो भागऽ एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः॥२७

(ऋतुशः) ऋतु-ऋतु के अनुसार (हविष्यम्) खाद्य और पेय अन्नों

---

१. मन्त्र २२१ में तो "सुप्राङ्" **द्वारा ठीक पूर्व दिशा का वर्णन हुआ है,** जो कि ठीक भूमध्यरेखा पर होती है। मन्त्र २२२ में "पुरः" शब्द द्वारा **केवल यह दर्शाया है कि अज या छाग अर्थात् मेषराशि, सूर्य के पुरः** स्थित है, जहा कि मीन राशि के पश्चात् सूर्य ने पहुंचना है। साथ ही यह भी दर्शाया है कि कारीगर परमेश्वर इस सूर्य को इसलिये पाल रहा है,ताकि यह उत्तमोत्तम अन्नों का उत्पादन कर सके।

के उत्पादन में हितकारी, (अश्वम्) किरणों से व्याप्त, (यत्) जिस (देवयानम्) ज्योतिर्मय-रथ अर्थात् सूर्य को, (मानुषाः) मनुष्याकृति की राशियां (त्रिः) तीन वार (परि नयन्ति) राशिचक्र पर नयन करतीं अर्थात् उसे मार्गप्रदर्शन करती हैं, (अत्र) इस राशिचक्र में (पूष्णः) रश्मियों से परिपुष्ट सूर्य का (प्रथमः भागः) प्रथम सेवनीय स्थान (अजः) शेषराशि (एति) आती है, जोकि (देवेभ्यः) दिव्य जनों के लिये (यज्ञम्) यज्ञों के करने को (प्रतिवेदयन्) जनाती है, उन्हें ज्ञान देती है।

[**हविष्यम्=हविः (हु अदने) अर्थात् खाने योग्य सात्विक पदार्थ**। सात्विक पदार्थ पेय भा होते हैं जिन्हें कि 'हविः' कह सकते हैं। यथा—"**हविस्पान्तम्=**"**हविर्यत् पानीयम्**" (ऋ० १०।८८।१), तथा (निरु० ७।७।२५)। खाने और पीने योग्य सात्विक पदार्थों को 'हविः' कहते हैं। यथा—"**ये सत्यासो हविरदो हविष्पाः** [पितरः] (अथर्व० १८।३।४८)। **मानुषाः**[1]=An epithet of the Three signs of the zodiac, Gemini, virgo and libra (आपटे), अर्थात् राशिचक्र की मनुष्याकृतिवाली तीन राशियां—"**मिथुन, कन्या,** तथा **तुला** अर्थात् तुलाधारी"। राशिचक्र में १२ राशियां होती हैं—**मेष** जिसे कि वेद ने अज और छाग कहा है, **वृष** (बैल), **मिथुन** (स्त्रीपुरुष युगल), **कर्क** (केंकड़ा), **सिंह, कन्या, तुला,** (तुलाधारी), **वृश्चिक** (बिच्छू), **धन** (धनुः), **मकर** (मगरमच्छ), **कुम्भ** (घड़ा), **मीन** (मछली)। इन में मिथुन, कन्या और तुला अर्थात् तुलाधारी को मानुष कहा है। शेष राशियां पशु और कीट तथा मछली हैं, और या निर्जीव घड़ा तथा धनुष रूप हैं। ये पशुरूप आदि राशियां मेषस्थ सूर्य का मार्ग प्रदर्शन या उस का नयन नहीं कर सकतीं। इसलिये मिथुन आदि मनुष्याकृतिवाली तीन राशियों को कविता रूप में सूर्य के मार्गप्रदर्शक रूप में वर्णित किया है। ये तीन वार सूर्य को मार्गप्रदर्शन कराती हैं। सूर्य मेषराशि पर है, इसे मिथुन ने मार्गप्रदर्शन कर कन्याराशि तक पहुंचाया। कन्या ने मार्गप्रदर्शन कर इसे तुला तक पहुंचाया, और तुलाधारी ने मार्गप्रदर्शन कर सूर्य को पुनः मेषराशि[2] तक पहुंचा दिया, यह कल्पना मन्त्र में प्रतीत होती है। मन्त्र

---

१. अथवा मनस्वी परमेश्वर की मुख्य तीन ऋतुएं, अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद् अपने-अपनें काल में सूर्य को राशिचक्र में मार्गप्रदर्शन कराती हैं।

२. मेषराशि से कन्याराशि तक सूर्य भूमध्यरेखा या विषुववृत्त के उत्तर में रहता है, और तुलाराशि से मीनराशि तक सूर्य, भूमध्यरेखा या विषुववृत्त के

में यह भी कहा है कि अज अर्थात् मेषराशि—जहां से कि वर्ष का आरम्भ होता है, देवों को यज्ञार्थ चेतावनी देती है। यह मेषराशि-काल वसन्त-ऋतु का है। ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में कहा है कि—"वसन्ते ब्राह्मणः अग्नीनादधीत, ग्रीष्मे क्षत्रियः, शरदि वैश्यः"।]

२२४. होताध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शंस्ता सुविप्रः। तेन यज्ञेन स्वरङ्कृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम् ॥२८॥

(होता) ऋचाओं द्वारा स्तुति करनेवाला ऋत्विक्, (अध्वर्युः) हिंसारहित यज्ञ के उपकरणों को जुटानेवाला ऋत्विक, (आवयाः) वयः अर्थात् आहुत्यर्थ अन्नादि सामग्री का पूर्णतया संग्रह करनेवाला ऋत्विक्, (अग्निमिन्धः) अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला ऋत्विक् (ग्रावग्राभः) पीठी पीसने के लिये सिल-बट्टा ग्रहण करनेवाला ऋत्विक्, (उत) और (शंस्ता) ऋचाओं पर सामगान करनेवाला ऋत्विक्, (सुविप्रः) उत्तम मेधावी ब्रह्मा, ऐसे हे ऋत्विजो! तुम (तेन) उस २२३ वें मन्त्र में कथित (स्वरङ्-कृतेन) सुशोभित तथा (स्विष्टेन) सु सम्पादित (यज्ञेन) यज्ञ द्वारा (वक्षणाः) नदियों को [वर्षा जल द्वारा] (आ पृणध्वम्) पूर्णतया पूरित कर दो, भरपूर कर दो।

[सुविप्रः=सु+विप्रः (मेधावी, निघं० ३।१५)। वक्षणाः=नदीनाम (निघं०१।१३)। आवयाः=आ+वयस् अन्ननाम (निघं० २।७)। जलवर्षा के वर्णन से प्रतीत होता है कि अश्वमेध राष्ट्रयज्ञ है, ताकि वर्षा द्वारा राष्ट्र की समृद्धि अन्न द्वारा हो। इसलिये "पशुयज्ञ पर सामान्य दृष्टि" के प्रकरण में अग्नि वायु और वर्षा सूर्यरूपी पशुओं द्वारा किये गये राष्ट्र-यज्ञ का फल कहा है। "पिबैता अपः" (मन्त्रक्रमाङ्क १५४)। सूर्य वर्षा का कारण है, इसलिये—"वक्षणा आपृणध्वम्" कहा है। "जो मनुष्य सुगन्धि आदि से उत्तम बनाए हुए होम योग्य पदार्थों को अग्नि में छोड़ने से, पवन और

दक्षिण में रहता है। दक्षिण में गया सूर्य सुदूर-उत्तर में रहनेवालों को लगभग ६ मास दीखता तक नहीं। मेषराशि पर सूर्य के प्रत्यावर्तन पर ही इन सुदूरवासियों को सूर्य का पुनः दर्शन हो सकता है। इसलिये तुलाधारी तक मार्गप्रदर्शन का वर्णन मन्त्र में हुआ है।

वर्षाजल आदि पदार्थों को शोध कर, नदी नद आदि जलों की शुद्धि करते हैं, वे सदैव सुख भोगते हैं" (भावार्थ, महर्षि दयानन्द)।]

विशेष:—मेषराशि की समनन्तर, अर्थात् साथ की अगली राशि "वृष" है। वृष का सम्बन्ध धात्वर्थ की दृष्टि से वर्षा के साथ सम्भावित है। वर्षा और वर्षा के उत्पादक यज्ञों का वर्णण मन्त्र २२३, २२४ में हुआ है। इसलिये यह परस्पर सम्बन्ध, अश्वमेध में सूर्य के वर्णण-सम्बन्धी ही प्रतीत होता है, न कि वध्य-घोड़े के वर्णण सम्बन्धी। २२४ में नदियों और वर्षाजल द्वारा उन के पूरित होने का भी वर्णन है।]

२२५. यूपव्रस्का॒ऽ उ॒त ये यू॑पवा॒हाश्च॒षालं॒ येऽ अ॑श्वयू॒पाय॒ तक्ष॑ति ।
ये चार्व॑ते॒ पच॑नꣳ स॒म्भर॑न्त्यु॒तो तेषा॑म॒भिगू॑र्त्तिर्नऽ इन्वतु ॥ २९॥

(ये) जो लोग (यूपव्रस्काः) यज्ञखंभे के छेदनेवाले, (उत) और (यूपवाहाः) यज्ञखंभे को पहुंचानेवाले, और (ये) जो (अश्वयूपाय) किरणों से व्याप्त सूर्य को खंभे के साथ बांधने के लिये (चषालम्) खंभे के कङ्कण अर्थात कड़े को (तक्षति) घड़ते हैं, (च) और (ये) जो (अर्वते) प्रेरक सूर्य के लिये तन्निमित आहुतियां देने के लिये (पचनम्) परिपक्व हवि का (सम्भरन्ति) संग्रह करते हैं, (उत उ) तथा अन्य उपकरणों का संग्रह करते हैं, (तेषाम्) उन का (अभिगूर्तिः) उद्यम (नः) हमें (इन्वतु) व्याप्त अर्थात् विशेषतया प्राप्त हो।

[यूप, चषाल=यूप का अर्थ है खम्भा, और चषाल का अर्थ है—कड़ा। यूप गाड़ कर उस पर कड़ा लगाकर, उस कड़े में रस्सी डाल कर, खम्भे से चारों ओर वृत्त बनाकर, इस वृत्त को भूमध्यरेखा, उत्तरायण और दक्षिणायन सीमाओं में, लेटी-खड़ी रेखाओं में, तथा अंशों में विभक्त कर, सूर्य की वार्षिक गतियों और मुहूर्त आदि का परिज्ञान करना होता है, ताकि भिन्न-भिन्न यज्ञों के कालों का ठीक अवबोध प्राप्त कर यज्ञ किये जा सकें। मन्त्रक्रमांक २२३,२२४ में यज्ञों का विधान हुआ है। तन्निमित्त काल-विज्ञान के लिये यूप और चषाल का वर्णन हुआ है। "पचनम्' द्वारा यज्ञ-निमित्त परिपक्व हवि का वर्णन हुआ है।]

२२६. उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशाऽ उप वीतपृष्ठः।
अन्वेनं विप्राऽ ऋषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चकृमा सुबन्धुम्॥
३०॥

(वीतपृष्ठः) कान्तिमय अर्थात् ज्योतिर्मय पीठवाला सूर्य (सुमत्) स्वयम् (उप प्रागात्) पूर्व दिशा के समीप आ गया है [अर्थात् सूर्यास्त के पश्चात्], (मे) मेरा (मन्म) मन या मनन (अधायि) मुझ में पुनः स्थापित हुआ है [जो कि सूर्यास्त होने पर मानो निद्रा में खो गया था], (देवानाम्) दिव्य जनों तथा व्यवहारियों को (आशाः) आशाएं और अभिकाङ्क्षाएँ [उप प्रागन्] फिर उन्हें प्राप्त हुई हैं। (विप्राः) मेधावी तथा (ऋषयः) मन्त्रार्थज्ञाता (एनम्) इस सूर्योदय को प्राप्त कर (अनु मदन्ति) आनन्द को प्राप्त होते हैं। (देवानाम्) दिव्यजनों तथा व्यवहारियों की आशाओं= कामनाओं की (पुष्टे) पुष्टि के निमित्त, इस सूर्य को (सुबन्धुम्) उत्तम बन्धुरूप में (चकृम) हम स्वीकार करते और मानते हैं।

[वीत=वी कान्तौ। सुमत्=स्वयम् (निरु० ६।४।२२)। मन्मः=मनः (निरु० ६।४।२२)। देवानाम्=दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमद-स्वप्नकान्तिगतिषु।]

२२७. यद्वाजिनो दाम सन्दानमर्वतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य।
यद्वा घास्य प्रभृतमास्ये तृणꣳ सर्वा ता तेऽ अपि देवेष्वस्तु॥
३१॥

(वाजिनः) बलशाली तथा अन्नोत्पादक, और (अर्वतः) सर्वप्रेरक सूर्य की (यद्) जो (दाम) विद्युल्लेखा के सदृश चमकती हुई, (सन्दानम्) भूमि की ओर आती हुई रश्मि-संततिरूपी रस्सी है, तथा (या) जो (अस्य) इस सूर्य की (शीर्षण्या) द्युलोकगत (रशना) व्यापनशील (रज्जुः) रश्मिसमूहरूपी रस्सी है, (वा) तथा (अस्य) इस सूर्य की (आस्ये[1]) मुख-अग्नि में (यद्) जो (प्रभृतम्, तृणम्) प्रभूत ओषधि वनस्पति आदि तृण भस्मीभूत सा हुआ है, (ता सर्वा=तानि सर्वाणि) वे सब कार्य (अपि)

---

१. अग्निं यश्चक्र आस्यम्। तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः (अथर्व० १०।७।३३)। आस्यम्=अग्निम्।

भी, (देवेषु) द्युतिमान् नक्षत्रों में विद्यमान (ते) तेरे लिये, हे सूर्य ! (अस्तु) हों, या होते हैं।

[दाम=A line as of lightning (आप्टे) अर्थात् रेखाकार में विद्युत् की चमक। सन्दानम्=A Rope, cord (आप्टे) अर्थात् रस्सी। शीर्षण्या रशना=सिर अर्थात् द्युलोक की ओर गई रश्मिरूप रस्सी। यथा—"शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१।१३), अर्थात् आधिदैविक दृष्टि में "शिरः"= द्युलोक। रशना=अश व्याप्तौ। अश्नुते व्याप्नोतीति रशना (उणा० २।७६), महर्षि दयानन्द। आस्ये[1]=मुखे। मुखादग्निरजायत (यजु० ३१।१२), अर्थात् आधिदैविक अर्थों में मुख=अग्नि। मन्त्र में प्रतप्त सूर्य की अग्नि को 'आस्य' कहा है। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की प्रखर-अग्नि में ओषधि-वनस्पतियां सूख कर तृणरूप हो जाती हैं, मानो सूर्य की मुखाग्नि में ये भस्मीभूत सी हो जाती हैं। ये सब कार्य द्युलोकस्थ सूर्य के सम्बन्ध में समझने चाहियें, न कि घोड़े के सम्बन्ध में। मन्त्र में "तृणम्" का विशेषण है, "प्रभृतम्" अर्थात् बहुत। सूर्य के प्रखर ताप में प्रभूत ओषधि-वनस्पतियां सूख कर तृणरूप हो जाती हैं। घोड़े के मुख में तो एक ग्रास में थोड़ा ही तृण आ सकता है, प्रभूत नहीं। इसलिये मन्त्र में ग्रीष्म काल के प्रतप्त सूर्य का ही वर्णन उचित प्रतीत होता है।]

२२८. यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति।
यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता तेऽ अपि देवेष्वस्तु॥३२॥

(अश्वस्य) अश्व के (क्रविषः) मांस को (यत्) जो (मक्षिका) मक्खी ने (आश) खाया है, (वा) अथवा (यद) जो (स्वरौ) उत्तप्त (स्वधितौ) वज्र में (रिप्तम) लिप्त (अस्ति) हुआ है, (यद्) जो (शमितुः) शान्त करनेवाले के (हस्तयोः) हाथों में, और (यत्) जो (नखेषु) नखों में लिप्त है, (सर्वा ता) वह सब कार्य (अपि) भी (देवेषु) द्युतिमान नक्षत्रों में विद्यमान (ते) तेरे लिये हे अश्व, अर्थात किरणों से व्याप्त हे सूर्य ! (अस्तु) हों, या होते हैं।

[मन्त्र में मक्षिका, आश, स्वधितौ, हस्तयोः, नखेषु, रिप्तम् आदि शब्दों से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अश्वमेध में अश्व अर्थात घोड़े के वध का वस्तुतः वर्णन है। परन्तु मन्त्र क्रमाङ्क २३९में "मा स्वधितिस्तन्व आ तिष्ठिपत्ते"

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १३७ स्थित टि० १।

(अ० २५।४३) आदि द्वारा यह कहा है कि हे अश्व ! तेरी तनू पर वज्र प्रहार न हो। इस से सन्देह होता है कि मन्त्र २२८ में प्रतीयमान हिंसा का शायद कोई और अभिप्राय हो। मन्त्र २३९ में और भी ऐसे वर्णन हैं, जो कि घोड़े की हिंसा के निषेधपरक हैं। यथाक्रम मन्त्र २३९ की व्याख्या की जायेगी।

साथ लगाए चित्र में मक्षिकामण्डल तथा महिषासुरमण्डल दर्शाए गए हैं। मक्षिकामण्डल में ३ तारे हैं, जो कि एक त्रिकोणसा बनाते हैं। इन्हें बिन्दु-रेखाओं द्वारा यदि परस्पर में मिलाया जाये, तो मक्षिकासा आकार बन जायेगा। मन्त्र में मक्षिका एकवचन में है। घोड़े की हत्या में उस का मांस क्या एक ही मक्षिका खाती है, एक से अधिक मक्षिकाएँ नहीं खातीं ? मक्षिका से अभिप्राय यदि मक्षिकामण्डल का हो, तब ही मक्षिका में एकवचन उपपन्न हो सकता है। "Popular Hindu Astronomy" (लेखक—Kali Nath Mukherji) के पृष्ठ १६० तथा १८८ में मक्षिकामण्डल का वर्णन है। दक्षिण की ओर गति में मक्षिका-मण्डल के समीप से गुजरता हुआ सूर्य, महिषासुर-मण्डल के पास से गुजरता है। इसके दाहिने हाथ में तलवार है, और बाएं हाथ में ढाल है। मानो वह अश्व अर्थात् सूर्य को काटने के लिये यह उद्यत है। सूर्य आकाशीय-विषुववृत से जब दक्षिण की ओर जाता है, तब इसे मक्षिकामण्डल तथा महिसासुर के समीप से जाना होता है। ये दोनों मण्डल मानो सूर्य के मांस अर्थात् शरीर पर आक्रमण करते हैं। कन्या से दक्षिण की ओर जब सूर्य की गति होती है, तब सितम्बर मास चढ़ा हुआ होता है। इस समय शैत्य का प्रारम्भ होने से सूर्य उत्तर में ठण्डा पड़ जाता है। मानो मक्षिका ने इस का खून चूस लिया है, और महिषासुर ने तलवार द्वारा प्रहार कर इसे कमजोर और शक्तिहीन कर दिया है। सूर्य चूँकि दक्षिण की ओर है, अतः वह इस समय महिषासुर को तपा रहा होता है। इसलिये उस की "स्वधिति" अर्थात् तलवार को "स्वरु" कहा है। स्वरु=स्वृ उपतापे, अर्थात् सूर्य के ताप से प्रतप्त। महिषासुर के ऊपर के धड़ तथा सिर आदि को चूंकि पुरुषाकृति का रूप दिया है, इसलिये इस के दो हाथों तथा नखों का, और हाथ में ली स्वधिति का वर्णन भी स्वाभाविक हो जाता है। और अश्व के मांस द्वारा तलवार, हाथों तथा नखों के लिप्त हो जाने का भी वर्णंन स्वाभाविक हो जाता है। यह सब वर्णन कवितामय है, वस्तुतः नहीं। तभी मन्त्र के अन्त में कहा है कि ये सब कार्य द्युलोक में हो रहे हैं,

अर्थात् पृथिवीलोक में नहीं। मक्षिकामण्डल, त्रिशंकुमण्डल, तथा महिषासुरमण्डल के चित्र "Popular Hindu Astronomy" से लिये हैं। महिषासुरमण्डल को आङ्गलभाषा में Centaur कहते हैं। **स्वधितिः वज्रनाम** (निघं० २।२०), अर्थात् जिस शस्त्र को स्व (अपने हाथ में)+धितिः (रखा जाय; धि धारणे)+क्तिन्। **स्वधितिः=स्वयं धत्ते** (निरु० अ० १३ (१४), पा० २ (१), खं० ७२ (१४)।

मक्षिका=musca the fjy, originally musca austratis, the southern fly; देखो—("Beyond the star system", page ६८; Publisher, sidgwick & jackson, London) । Centaur=monster, Half-man, half-horse ।]

महिषासुरमण्डल व मक्षिकामण्डल का चित्र
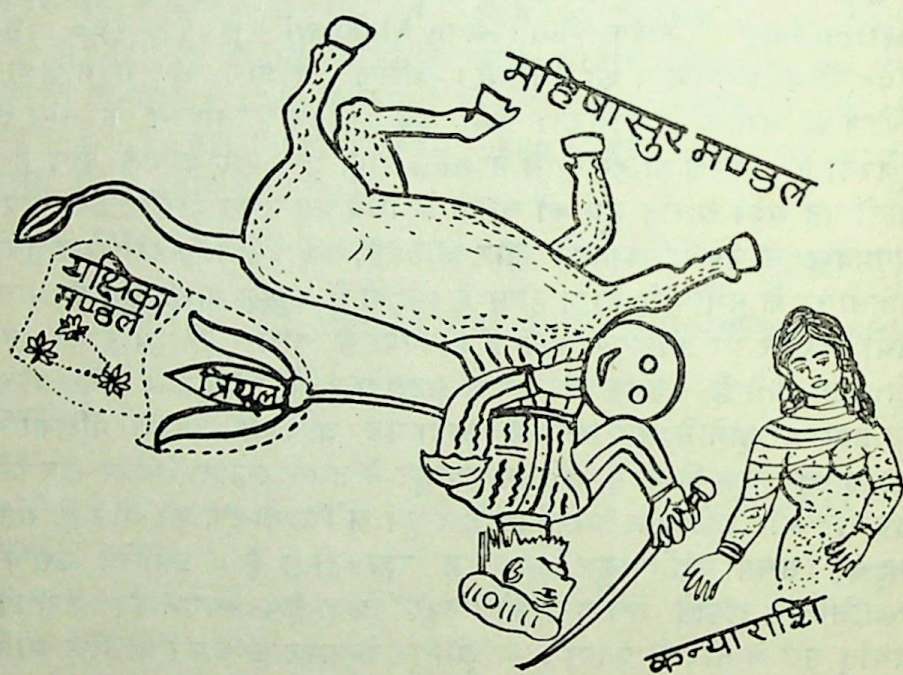
२२९. यदूवध्यमुदरस्यापवाति यऽआमस्य क्रविषो गन्धोऽअस्ति ।
सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूत मेधं शृतपाकं पचन्तु ॥३३॥

(उदरस्य) पेट का (यद्) जो (ऊवध्यम्) मल (अपवाति) गन्ध-रूप में वायु में फैलता है, (यः) और जो (आमस्य) गृहसम्बन्धी (क्रविषः) कटी-छांटी वस्तुओं का (गन्धः) गन्ध (अस्ति) है, (तत्) उसे (शमितारः) शान्त कर देनेवाली सूर्यकिरणें (सुकृता) ठीक (कृण्वन्तु) कर दें, (उत) और (मेधम्) गृहमेधी के गृहमेध-सम्बन्धी (शृतपाकम्) अग्निसाध्य पाकक्रियाओं को (पचन्तु) पाकविधि द्वारा सम्पन्न करें।

[अपवाति=अप+वाति (वा गतिगन्धनयोः)। आमस्य=अमा गृहनाम (निघं० ३।४)+अण्। तस्येदम् (अष्टा० ४।३।१२०)। क्रविषः गन्धः=कृञ् हिंसायाम्, अर्थात् काटी सब्जी आदि वस्तु का गन्ध। क्रव्यम्=विकृतात् जायते (निरु० ६।३।११)। मन्त्र में सूर्य की किरणों के दो कार्य दर्शाए हैं, (१) मलमूत्र तथा गृह्य गन्दगी के गन्ध का निवारण करना, तथा (२) अग्निसाध्य पाकक्रियाओं का सम्पादन करना। क्रविषः=अथवा "कॄ" विक्षेपे, अर्थात् गृह्य अवाञ्छित पदार्थ, जो कि घर से बाहिर फैंक दिया जाता है, उस का गन्ध।]

२३०. यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभि शूलं निहतस्यावधावति ।
मा तद् भूम्यामाश्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु ॥३४॥

[हे अश्व=सूर्य !] (अग्निना) निज अग्नि द्वारा (निहतस्य) ताड़ित हुए (ते) तेरे (पच्यमानात्) पकाए जाते हुए (गात्रात्) पिण्ड से (यत्) जो (शूलम्[1]) भूननेवाला कष्टदायी रश्मिसमूह (अभि अवधावति[2]) भूमि को लक्ष्य करके नीचे की ओर दौड़ता है, (तत्) वह रश्मिसमूह (मा) न

---

१. अश्वहिंसा पक्ष में शूल अर्थात् शस्त्र का अवधावन अनुपपन्न है। वह तो घातक के हाथ में ही रहता है।

२. सूर्यरश्मि ८ मिनिटों में लगभग १० करोड़ मीलों के वेग में गति करती है, अतः सूर्यरश्मि के धावन अर्थात् दौड़ने का वर्णन हुआ है। शस्त्र धावन नहीं कर सकता।

अब (भूम्याम्) भूमि में, और (मा) न (तृणेषु) ओषधि आदि में, (आश्रिषत्) आश्रय पाए, [अर्थात् सूर्यास्त होने पर भूमि और ओषधियों पर न गिरे], (तत्) वह रश्मिसमूह (उशद्भ्यः) कान्तिमय (देवेभ्यः) प्रकाशमान ग्रहों-उपग्रहों को (रातम्) दिया गया (अस्तु) हो जाय।

[निहतस्य[1] =नि+हन् =To strike, hit (आप्टे), जैसे कि—"अघातम्, आहतम्" में हन् का अर्थ है ताड़ना। उशद्भ्यः =वश कान्तौ। सूर्यास्त हो जाने पर सूर्य का भूननेवाला रश्मिसमूह ओषधि आदि को नहीं भूनता, वह रात्रि के समय ग्रहों तथा उपग्रहों को प्रकाशित करता है। यथा—"सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः" (यजु० १८।४०), तथा—"अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम्, आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति" (निरु० २।२।६)। शूलम् =कष्टप्रद, यथा—उदरशूलम्, अर्थात् पेट को कष्ट देनेवाला दर्द। मन्त्र में ग्रीष्म ऋतु के सूर्य का वर्णन है।]

२३१. ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं यऽ ईमाहुः सुरभिर्निहरेति।
ये चार्वतो माᳬसभिक्षामुपासतऽ उतो तेषामभिगूर्त्तिर्नऽ इन्वतु॥ ३५॥

(ये) जो (परिपक्वम्) खूब-तपे हुए (वाजिनम्) अन्नोत्पादक सूर्य को (पश्यन्ति) देखते हैं, (उत उ) और (ईम्) इसे (इति) यह (आहुः) कहते हैं कि (सुरभिः) तू स्वयं सुगन्धयुक्त है, (निर्हर) भूमण्डल की दुर्गन्ध का अपहरण कर (मन्त्रक्रमाङ्क २२९), (च) और (ये) जो (अर्वतः) प्रेरणा देनेवाले सूर्य से (मांसभिक्षाम्) फलों में गुद्दा भर देने की भिक्षा की (उप आसते) प्रतीक्षा करते रहते हैं, (तेषाम्) उन सब का (अभिगूर्तिः) अभ्युद्यम (नः) हमें (इन्वतु) विशेषतया प्राप्त हो।

[सूर्य के प्रतप्त होने पर अन्न पकता है। इस दृष्टि से अन्नोत्पादक सूर्य को किसान लोग देखते और जानते हैं। सूर्य पुष्पों और फलों में सुगन्ध का संचार करता, दुर्गन्ध का अपहरण करता, तथा समय पर फलों में गुद्दा भरता है। मांस =फलों का गुद्दा। मांसम् =The fleshy part of a fruit (आप्टे)। तथा—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः॥

---

१. नितरां हतस्य ताडितस्य।

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वचः उत्पटः।
तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात्॥
मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम्।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता॥

बृहदा० उप० अ० ३, ब्रा० ९, कण्डि० २८॥

अर्थात् जैसे बड़ा वृक्ष होता है, पुरुष भी वैसा ही होता है, यह सत्य है। वृक्ष के पत्ते रोम हैं; बाहर की छाल त्वचा है। आहत होने पर मनुष्या की त्वचा से रुधिर निकलता है, जो कि वृक्ष की त्वचा से निकला रस है। वृक्ष के शकर [गुद्दा] मांसरूप हैं; सूक्ष्म तन्तु पुरुष के स्नाव हैं; अन्दर की दारु अस्थि, तथा दारु में रहनेवाला स्नेह पदार्थ पुरुष की अस्थिगत मज्जा है।

इस वर्णन में स्पष्ट दर्शाया है कि लोम, त्वचा, रुधिर, मांस, स्नाव, अस्थि, मज्जा आदि शरीरावयववाची पद, वृक्षों के भिन्न-भिन्न अवयवों के भी वाचक हैं। सुरभिः=Pleasing, agreeable, shining, handsome. सूर्य में ये अर्थ भी उपपन्न होते हैं। सूर्य फूल आदि में सुगन्धों का उत्पादक है, अतः सूर्य को सुरभि अर्थात् सुगन्धयुक्त कहा है। क्या मांस भी सुगन्धयुक्त हो सकता है? उस से तो दुर्गन्ध ही आती है।]

२३२. यन्नीक्षणं मांस्पचन्याऽ उखाया या पात्राणि यूष्णऽ आसेचनानि। ऊष्मण्यापिधाना चरूणामङ्काः सूनाः परि भूषन्त्यश्वम्॥३६॥

(मांस्पचन्याः) फलों के गुद्दों को पकानेवाली (उखायाः) पृथिवीरूपी[1] उखा का (यत्) जो (नीक्षणम्) नितरां निरीक्षण करना है, (या) जो यूष्णः) सूप अर्थात पकाई सब्जी के रसों के (पात्राणि) पात्र, तथा (आ सेचनानि) खेतों में जलों का सींचना, (चरूणाम्) खाद्य अन्नों को (ऊष्मण्या) गर्म रखने के (अपिधाना) ढकने, (सूनाः) अतिगर्मी और अति सर्दी तथा सौर कालचक्र के कारण हुई मृत्युएं– ये (अङ्काः) चिह्न (अश्वम्) सूर्य को (परि भूषन्ति) सुशोभित करते हैं।

---

१ अतिगर्मी में पृथिवी अतितप्त हो जाती है, जैसे कि अग्नि पर रखी "उखा" अर्थात् बटलोई। इस प्रकार लुप्तोपमा द्वारा उखा द्वारा पृथिवी का ग्रहण औपचारिक है।

[सूर्य ऋतु-ऋतु के अनुसार उष्ण, शीत, तथा समशीतोष्ण होता रहता है। फलदायक वृक्षों की भूमि को जलसेचन द्वारा सींचते रहना, और उस का निरीक्षण करते रहना, ऋतु-ऋतु में पकी सब्जी के परिपक्व रसों को पात्रों में डालकर उन्हें सुरक्षित करना, खाद्य पदार्थों को गर्म रखने के लिये ढांपना, आदि चिह्न सूर्य की गर्मी-सर्दी के हैं।]

२३३. मा त्वाग्निर्ध्वनयीद् धूमगन्धिर्मोखा भ्राजन्त्यभि विक्त जघ्रिः। इष्टं वीतमभिगूर्त्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रति गृभ्णन्त्यश्वम् ॥३७

हे रश्मियों से व्याप्त सूर्य ! (अग्निः) तेरी अग्नि (त्वा) तुझे (ध्वनयीत् मा) चटचटा-ध्वनि करती हुई न जलाए, (धूमगन्धिः मा) और न धूएं के गन्धवालीं होकर तुझे धूमावृत करे। (उखा[1] भ्राजन्ती) उखा की तरह तेरे प्रखर ताप द्वारा प्रतप्त हुई (जघ्रिः) गन्धवती पृथिवी (अभि विक्त मा) तुझे भयभीत या संचालित न करे। अर्थात् तेरे द्वारा संतापित पृथिवी कहीं प्रत्यपकार में तुझे संतापित न कर दे, इस प्रकार के भय से तू भीत न हो। (इष्टम्) हमारे लिये अभीष्ट, (वीतम्) रश्मियों द्वारा कान्तिमान्, (अभि गूर्तम्) पृथिवी की ओर गतिवाले, (वषट्कृतम्) अन्धकार का विनाश करनेवाले (तम्) उस (अश्वम्) रश्मियों से व्याप्त सूर्य को (देवासः) दिव्यगुणी लोग (प्रतिगृभ्णन्ति) स्वानुकूलरूप में स्वीकार करते हैं,अथवा ऐसे पर-संतापी सूर्य को भी द्युलोकस्थ द्युतिसम्पन्न तारागण अपने में रखना स्वीकार करते हैं।

[**विक्त = विजी भयसंचलनयोः। वीतम् = वी कान्तौ,** यथा—**वी गति-व्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु। वषट्कृतम् = वष् हिंसायाम् + शतृ (त् को ट्) + कृतम् (कर्तरि क्तः)। प्रतिगृभ्णन्ति = प्रतिग्रहः स्वीकारे। "ऋतुं मा निन्द्यात्[2]"** (उपनिषद्) की दृष्टि से दिव्यगुणी लोग पर-संतापी सूर्य को भी स्वानुकूल मानते हैं। तथा ऐसे पर-संतापी सूर्य को भी असंतापी तारागणों ने अपने साथ रहने की स्वीकृति मानो उदारतापूर्वक दी हुई है। मा विक्त=सूर्य,

---

१. देखो—पृष्ठ १४३, टिप्पणी १।

२. ऋतुओं का कर्त्ता परमेश्वर है। कृति की निन्दा से कर्त्ता की निन्दा होती है। परमेश्वर की कृति ऋतुएं हैं। अतः किसी ऋतु की भी निन्दा परमेश्वर की निन्दा है। इसे न करे।

पृथिवी को संतप्त करता है। संतप्त हुई पृथिवी सूर्य की परिक्रमा में बदला लेने की भावना से कहीं सूर्य को संतप्त न कर दे, ऐसा भय मन्त्र में दर्शाया है। वर्णन कवितामय है। परन्तु पृथिवी तो "**क्षमा पृथिवी**" (निघं० १।१) क्षमाशील है, वह सूर्य द्वारा संतापित हुई भी उसे संतापित नहीं करती, उसे क्षमा करती रहती है। **अश्वम्=अशूङ् व्याप्तौ। गूर्तम्=गूरी हिंसागत्योः।**]

२३४. निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च पड्वीशमर्वतः।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता तेऽअपि देवेष्वस्तु॥
३८॥

(अर्वतः) प्रेरणा देनेवाले सूर्य का (निक्रमणम्=निष्क्रमणम्) पूर्व दिशा से निकलना, (निषदनम्) पश्चिम दिशा में बैठना अर्थात् अस्त होना, (विवर्तनम्) उत्तरायण और दक्षिणायन की विरुद्ध-विरुद्ध दिशाओं में आवर्तन—प्रत्यावर्तन, (च) और (यत्) जो (पड्वीशम्) पैर में प्रविष्ट पादबन्धन हैं, (च) और (यत्) जो कि हे सूर्य! (पपौ) वाष्पीकरण द्वारा पार्थिवजल तूने पिया है, (च) और (यत्) जो कि (घासिम) घास को सुखा कर (जघास) तूने मानो खाया है, (ता सर्वा=तानि सर्वाणि) वे सब कृत्य (अपि) भी, (देवेषु) दिव्य नक्षत्रों में स्थित (ते) तेरे (अस्तु) हों या होते हैं। अर्थात् ये सब दिव्य घटनाएं हैं, पार्थिव नहीं।

[**पड्वीशम्=पड्विशम्=सूर्य के पैर में पादबन्धन लगा हुआ है।** इस के द्वारा यह दर्शाया है कि सूर्य अपने स्थान में बन्धा हुआ है, स्थिर है। उस का उदय, अस्त, तथा उत्तरायण, दक्षिणायन पृथिवी की भिन्न-भिन्न गतियों के कारण हैं। जैसे कि कहा है कि—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।

यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन॥
अथर्व० ११।४।२१॥

अर्थात् सलिल से उठता हुआ हंस [**सूर्य; उणा० ३।६२; महर्षि दयानन्द**] अपने एक पैर को नहीं उखाड़ता। यदि वह उसे उखाड़ दे, तो न आज हो न कल, न रात हो न दिन, तथा न उषा कभी चमके। इस उद्धरण में हंस द्वारा सूर्य अभिप्रेत है—**हन्ति अन्धकारमिति हंसः। "पादं**

नोत्खिदति" द्वारा यह दर्शाया है कि सूर्य स्थिर है, चलता नहीं। इस भावना को मन्त्र २३५ में भी "पड्वीशम्" द्वारा प्रकट किया है। घासिम् जघास=सूर्य की प्रखर गर्मी द्वारा जब घास सूख कर समाप्त हो जाते हैं, तब कल्पना की गई कि सूर्य घास को खा गया है। हंसाः=सूर्यरश्मयः (निरु० १३(१४), ३ (२), ३० (४३)। पड्वीशम्=पद्+विशम्। पैर में प्रविष्ट पादबन्धन, पैर की रस्सी।]

२३९. यदश्वा॑य॒ वास॑ऽउपस्तृ॒णन्त्य॑धीवा॒सं या हिर॑ण्यान्यस्मै।
स॒न्दान॒मर्व॑न्तं॒ पड्वी॑शं प्रि॒या दे॒वेष्वा या॑मयन्ति ॥३९॥

(अश्वाय) रश्मियों से व्याप्त सूर्य के लिये, प्राकृतिक शक्तियां, (यद्) जिस (वासः) आच्छादन तथा (अधीवासम्) ऊपर के आच्छादन को (उप स्तृणन्ति) स्तररूप में विस्तृत करती हैं, तथा (अस्मै) इस के लिये (या=यानि हिरण्याणि) जो सुवर्णमय आभूषण हैं, और (पड्वीशम्) पैर में प्रविष्ट (सन्दानम्) बन्धन है, (प्रिया=प्रियाणि) ये प्रिय वस्तुएँ, (अर्वन्तम्) प्रेरणा देनेवाले सूर्य को, (देवेषु) द्युतिमान् नक्षत्रों में (आ-यामयन्ति) पूर्णतया नियन्त्रित किये हुए हैं।

[वासः, अधीवासम्=दोनों के अर्थ हैं, शरीर का आच्छादन करनेवाले वस्त्र। वस आच्छादने। शरीर पर जो पहिला वस्त्र पहिना जाता है, उसे "वासः" कहा है, तथा चोले की तरह जो सब से ऊपर वस्त्र पहिना जाता है, उसे अधीवास कहा है। और सुवर्णमय आभूषण तदनन्तर धारे जाते हैं। सूर्य के चारों ओर मुख्यरूप में तीन मण्डल हैं। प्रथम—"प्रकाशमण्डल" जिसे कि Photosphere कहते हैं। यह प्रकाशमय घेरा है, जो कि सूर्य के पिण्ड को घेरे रहता है, और जो कि प्रकाश का स्रोत है। दूसरा मण्डल है—Chromosphere[1] (लाल गैस का चमकता स्तर)। यह मण्डल मन्त्रोक्त अधीवास है। तीसरा मण्डल है—रश्मिमण्डल। इसे मन्त्र में हिरण्याणि कहा है। हिरण्यानि का अभिप्राय है—हिरण्य अर्थात् सुवर्ण की प्रभावाली सूर्यरश्मियां।

---

१. Chromosphere=A layer of incandescent red gas, surrounding the sum, through which the light of photo-sphere pases (Twentieth century dictionary), अर्थात् लाल गैस का चमकता हुआ एक स्तर, जो कि सूर्य को घेरे हुए है, और जिस में से प्रकाशमय स्तर का प्रकाश गुजरता है।

इस सम्बन्ध में छान्दोग्य-उपनिषद् का सन्दर्भ निम्नलिखित है—"अथ यद् एवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव 'सा', अथ यन्नीलं परः कृष्णं तद् 'अमः', तत् "साम"। अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आ प्रणखात् सर्व एव सुवर्णः।" (अध्याय १, खण्ड ६, सन्दर्भ ६)। साम की व्याख्या के प्रकरण में कहा है कि—"आदित्य की जो शुक्ल प्रभा है वह "सा" है। और जो उस से परे नीला भाग है वह "अम" है। "सा" और "अम" के मेल से "साम" बना है। और जो यह आदित्य के अन्दर सुवर्णमय पुरुष दीखता है, जोकि सुवर्णमयी मूंछवाला और सुवर्णमय केशवाला, और जो कि नखाग्र तक सब हो सुवर्णरूप है।" यहां श्मसु और केश द्वारा नीचे की ओर आनेवाली, तथा ऊपर की ओर जानेवाली रश्मियों का वर्णन हुआ है, जिन्हें कि "हिरण्य" कहा है। मन्त्रोक्त "हिरण्यानि" पद द्वारा छान्दोग्योक्त हिरण्यश्मश्रु तथा हिरण्यकेश अभिप्रेत हैं। "हिरण्मयः पुरुष":— द्वारा ब्रह्म-पुरुष अभिप्रेत है, जोकि ज्योतिर्मय है। ज्योतिर्मय होने के कारण इसे हिरण्मय कहा है। यथा—"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥ (यजु० ४०।१७)। ब्रह्म को हिरण्यगर्भ भी कहते हैं। इस शब्द में भी हिरण्य का अर्थ सुवर्ण नहीं, अपितु ज्योतिर्मय सूर्य, चन्द्र, तारा आदि हैं।]

२३६. यत्ते सादे महसा शूकृतस्य पार्ष्ण्या वा कशया वा तुतोद।
स्रुचेव ता हविषोऽअध्वरेषु सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि॥४०॥

हे सूर्य! (ते) तुझ (शूकृतस्य) शीघ्रकारी के (महसा) तेज समेत पश्चिमदिशा में शीघ्र (सादे) बैठ जाने पर, अस्त हो जाने पर, (पार्ष्ण्या वा) एड़ी आदि अङ्ग द्वारा (कशया वा) या वाणी द्वारा (यत्) जो (तुतोद) मैंने किसी व्यक्ति को व्यथित किया है, कष्ट पहुँचाया है, तो हे व्यथित व्यक्ति! (ते) तेरी (ता सर्वा) उन सब व्यथाओं को (ब्रह्मणा) वेदोक्त विधि द्वारा (सूदयामि) मैं दूर कर देता हूँ, (इव) जैसे कि (अध्वरेषु) हिंसारहित यज्ञों में (हविषः) आहुति प्रदान करने की (स्रुचा) स्रुच द्वारा (ताः) रोग-जनित व्यथाएँ दूर की जाती हैं।

[सूदयामि=षूद क्षरणे। क्षरणं स्रावणम्। सूर्यास्त हो जाने पर अन्धेरे में अज्ञानवश निजाङ्ग द्वारा या वाणी द्वारा यदि किसी को कष्ट पहुँचाया हो, तो वेदोक्त विधि अर्थात् क्षमा-याचना आदि द्वारा उस का प्रतीकार अवश्य करना चाहिये। कशा=वाङ्नाम (निघं० १।११)। शूकृतस्य=शू (=

शु=आशु+कृतस्य), कर्तरि क्तः। "आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः" (निरु० ६।१।१)। ब्रह्म=वेद (उणा० ४।१४७) महर्षि दयानन्द। तथा ब्रह्म-वेद=अथर्ववेद।]

२३७. चतुस्त्रिꣳशद् वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति। अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या विशस्त ॥४१॥

(वङ्क्रीः[1]) वक्रगतियोंवाले (चतुस्त्रिशत्[2]) ३४ ग्रह-उपग्रह आदि को, (वाजिनः) अन्नोत्पादक, तथा (देवबन्धोः) द्युतिसम्पन्न नक्षत्रों में बन्धे हुए [मन्त्र २३६, २४०] (अश्वस्य) किरणों से व्याप्त सूर्य का, (स्वधितिः) रश्मिसमूहरूपी वज्र [उन के अन्धकार के विनाश के लिये] जैसे (समेति) सम्यक् रूप में प्राप्त होता है। इसी प्रकार हे वैद्यजनो! रोगी के (परुष्परुः) अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रुग्णावस्था की (अनुघुष्य) अनुरूप घोषणा करके, उसे सूचना देकर (आ विशस्त) पूर्ण शस्त्रक्रिया =शल्यक्रिया करो, और (वयुना) शल्यक्रिया के ज्ञानों का आश्रय लेकर (गात्रा) रोगी के अङ्गों को (अच्छिद्रा) परस्पर सन्धियुक्त (कृणोत) कर दो।

---

१. वङ्क्री.=टेढ़ी मेढ़ी चालों को (महर्षि दयानन्द)। मन्त्र मे "चतुस्त्रिशद्" द्वारा सौरमण्डल के ग्रह उपग्रह आदि घटकों का वर्णन प्रतीत होता है। ये ग्रह उपग्रह गोलवृत्त या अण्डाकार वृत्त में घूमते हैं। गोलवृत्त या अण्डाकार वृत्त का प्रत्येक अंश परस्पर में वक्र अर्थात् झुका हुआ होता है। अन्यथा वृत्त नहीं बन सकता। परस्पर में प्रत्येक अंश के झुकने को वक्र कहा गया है। अतः ग्रह उपग्रहों की चालें या गतियां वक्र होती हैं।

२. चतुस्त्रिशत् (३४), इस शब्द द्वारा ग्रह-उपग्रहों का निर्देश प्रतीत होता है—एक दृष्टि से इन ३४ का निर्देश निम्नलिखित उद्धरण द्वारा परिपुष्ट सा होता है—"All the planets expet mercury, venes, pluto are accomponied by moons, of which 31 such planetary companions are known at the present moment" Page 4 (Beyond the salar system) "by sidgwick & jackson-London" अभिप्राय यह है कि mercury आदि ३ ग्रहों के उपग्रह (चान्द) नहीं हैं। शेष ग्रहों के ३१ चान्द है। (३ और ३१=३४)। सम्भवतः मन्त्र में उपग्रहोंरहित ३ ग्रह, तथा अन्य ग्रहों के ३१ चान्द अभिप्रेत हों। अन्य ग्रहों को उन के उपग्रहों में ही अन्तर्भूत समझ लिया गया है। यह एक निर्देशमात्र है, निश्चितरूप में नहीं।

[वयुनम् प्रज्ञानाम (निघ० ३।९), वयुना=वयुनानि। अच्छिद्रा=छेद-भेद से रहित, अर्थात् परस्पर सन्धियुक्त। वयुना=वयुनानि आश्रित्य। अभिप्राय यह है कि जैसे सूर्य, रश्मिसमूहरूपी वज्र द्वारा अन्धकार का विनाश कर प्रकाश प्रदान करता है, वैसे वैद्यजन रोगी के रोगों का विनाश कर उसे स्वास्थ्य प्रदान करें।]

२३८. एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथऽऋतुः । या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ता ता पिण्डानां प्र जुहोम्यग्नौ॥ ४२॥

(त्वष्टुः[1]) रूपों के विधाता कारीगर परमेश्वर के रचे (अश्वस्य) किरणों से व्याप्त सूर्य का (आ विशस्ता) पूर्णतया विनाश करनेवाला (एकः) अकेला परमेश्वर है। (द्वा) दो इस के (यन्तारा) नियन्ता हैं, (तथा) और (ऋतुः) ऋतुचक्र या ऋतुकाल भी नियन्ता है। हे अश्व= सूर्य ! (ऋतुथा) ऋतु-ऋतु के अनुसार (ते) तेरे (गात्राणाम्) अवयव-रूपी ग्रहों तथा (पिण्डानाम्) उपग्रहरूपी चन्द्रादि के (या=यानि) जिन-जिन रूपों को (कृणोमि) मैं परमेश्वर प्रकट करता हूं, (ता ता=तानि तानि) उन-उन रूपों को (ते) तेरी (अग्नौ) अग्नि में (प्र जुहोमि) मैं आहुत करता हूं, समर्पित करता हूं।

[परमेश्वर ने सूर्य की रचना की है, वह ही इस का संहार भी करता है। उत्तरायण और दक्षिणायन की दो सीमाओं में सूर्य की गतियां नियन्त्रित हैं, तथा ऋतुकाल भी इस का नियन्ता है। सूर्य ऋतुओं के चक्र में भी बन्धा हुआ है। ग्रह उपग्रह सूर्य से ही फट कर अलग हुए हैं, इसलिये ये सूर्य के गात्र और उपगात्ररूप हैं। इन ग्रह-उपग्रहों में भी परमेश्वर, सूर्य की अग्नि द्वारा रूप अर्थात् प्रकाश आदि दे रहा है। त्वष्टा=रूपप्रदाता परमेश्वर। यथा—"तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति" (यजु० ३१।१७); तथा—"य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् (ऋ० १०।११०।९)। तथा त्वष्टा=त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः; त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः" (निरु० ८।२।१४)।]

---

१. अथवा रूपविधाता सूर्य का पूर्णतया विनाशक एक अर्थात् परमेश्वर है। त्वष्टा=रूपविधाता सूर्य। पृथिवी और पार्थिव पदार्थों तथा ग्रह-उपग्रह आदि के रूप सूर्य पर निर्भर हैं।

२३९. मा त्वा तपत् प्रियऽआत्मापियन्तं मा स्वधितिस्तन्वऽ आ तिष्ठिपत्ते। मा ते गृध्नुरविशस्तातिहाय छिद्रा गात्राण्यसिना मिथू कः ॥४३॥

हे अश्व=सूर्य ! (अपि यन्तम्) (पश्चिम की ओर जाते हुए, अस्त होते हुए (त्वा) तुझे (प्रिय आत्मा) सर्वप्रिय जगदात्मा (मा तपत्) अधिक न तपाए। (ते) तेरे(तन्व:) विस्तृत स्वरूप से निकला (स्वधिति:) उत्तप्त रश्मिसमूहरूपी वज्र (मा) न (आ तिष्ठिपत्) हम पर आ स्थित हो, या गिरे। जगदात्मा (मा) न (ते) तेरी (मिथू) हिंसा अर्थात् विनाश (क:) करे, जैसे कि (अविशस्ता) अप्रशस्त (गृध्नु:) मांसलोलुप व्यक्ति, (अति हाय) दया का अति परित्याग कर, (असिना) तलवार द्वारा (गात्राणि) प्राणी के अङ्गों को (छिद्रा) छिन्न-भिन्न कर (मिथू क:) उस की हिंसा अर्थात् विनाश करता है । जगदात्मा ही सूर्य की आत्मा है, जोकि इसे प्रेरित कर रही है। यथा"—योऽसावादित्ये पुरुषः सोसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७) :

[मिथू=मिथ् To kill (आपटे), हिंसा। मेथति हिनस्ति (उणा. ३। ५५) महर्षि दयानन्द। तन्वः=तनु विस्तारे । यथा—"तावांस्ते मघवन् महिमोप ते तन्वः शतम्" (अथर्व० १३।७।४५) । प्रिय आत्मा=परमेश्वर, जोकि सूर्य का नियन्ता तथा संचालक है। यथा —"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७) । सूर्य की अत्युष्णता से परितप्त व्यक्ति की व्याकुलता मन्त्र में दर्शाई है। साथ ही यह भी दर्शाया है कि अश्वमेध में अश्व का हनन मांसलोलुप व्यक्ति ही करते हैं। ऐसे व्यक्ति अप्रशस्त हैं, निन्दनीय हैं।]

अथवा

हे अश्व=आदित्य ! (अपि यन्तम्) दक्षिण दिशा की ओर जाते हुए (त्वा) तुझे (प्रिय आत्मा) तेरा प्रिय आत्मा अर्थात् संवत्सर (मा-तपत्) न तपाए। (ते) तेरे स्वरूप पर (स्वधिति:) उत्तप्त रश्मिसमूहरूपी वज्र (मा) न (आ तिष्ठिपत्) आ स्थित हो। (अविशस्ता) अप्रशस्त (गृध्नु:) लोभी महिषासुर (अतिहाय) दूर तक तेरे पीछे जाकर (ते) तेरे (गात्राणि) अङ्गों को (असिना) तलवार द्वारा (छिद्रा) छिन्न-भिन्न तथा (मिथू) हिंसित (मा क:) न करे।

["एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति। तस्य संवत्सर आत्मा "(बृ० उप० १।२) में अश्वमेध पद द्वारा प्रतप्त आदित्य का वर्णन हुआ है। और संवत्सर को प्रतप्त आदित्य की आत्मा कहा है। आत्मा शरीर का संचालन करता है। इस प्रकार संवत्सर-काल नियमपूर्वक आदित्य को इस के मार्ग पर चला रहा है। इस काल के कारण उत्तर और दक्षिण की ओर आदित्य की नियमित गतियां हो रही हैं। आदित्य जब उत्तरायण से दक्षिणायन होता है, तब उत्तर की ओर आदित्य का ताप दिनोंदिन घटता जाता है। "मा त्वा तपत्" द्वारा ताप की दिन-प्रतिदिन इसी हीनता का वर्णन हुआ है। दक्षिण को ओर आदित्य के मार्ग पर तलवार लिये महिषासुर स्थित है। इसे मन्त्र में गृध्नुः, अविशस्ता" कहा है। मार्ग पर स्थित हुआ भी महिषासुर शक्तिशाली आदित्य पर प्रहार नहीं कर पाता, इस प्रकार यह वर्णन कवितामय है। महिषासुर के लिये देखो—मन्त्रक्रमाङ्क (२२८ पर चित्र)।]

२४०. न वा ऽउ ऽएतन् म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२ऽइदेषि पथिभिः सुगेभिः। हरी ते युञ्जा पृषती ऽअभूतामुपास्थाद्वाजी धुरि रासभस्य ॥४४॥

(एतत्)यह तेरा अस्तंगत होना, इस से (उ वै) निश्चय है (न म्रियसे) कि तू मरता नहीं, (न रिष्यति) न तेरी हिंसा ही होती है, अपि तु (सुगेभिः) सुगम (पथिभिः) आकाशीय मार्गों द्वारा तू (देवान्) द्युतिसम्पन्न नक्षत्रों को ही (एषि) प्राप्त होता है, उन में तेरा आना-जाना होता रहता है। (युञ्जा=युञ्जौ) तेरे साथ जुते हुए (ते) तेरे (हरी) दो अश्व, (पृषती) जलसेचन अर्थात् वर्षा करनेवाले (अभूताम्) हुए हैं। (वाजी) बलशाली तथा अन्नोत्पादक सूर्य, (रासभस्य) प्रभादायक प्रत्येक नक्षत्र-तारा आदि की (धुरि) धुरा में (उपस्थात्) उपस्थित रहता है, अर्थात् प्रभा या प्रकाश के देने में सर्वाग्रणी है।

[मन्त्रक्रमाङ्क २३९ में "अपियन्तम्" द्वारा सूर्यास्त का वर्णन हुआ है। कहा है कि इससे सूर्य की मृत्यु न समझनी चाहिये। हरी=हृञ् हरणे। जो कि अन्धकार और जल का हरण करते हैं, अर्थात् प्रकाश और ताप की किरणें। क्या अश्वमेध के घोड़े के साथ दो और अश्व बन्धे रहते हैं?

वाजी=वाजः बलनाम; अन्ननाम (निघं० २।९; २।७)। रासभस्य¹=रासति दानकर्मा (निघं० ३।२०)+भा (दीप्तौ)। पृषती=पृषु सेचने। धुरि="अपांसुलानां धुरि कीर्तनीया" (रघुवंश २।२)=अग्रगण्या।]

२४१. सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्राँ२ऽ उत विश्वापुषं रयिम्। अनागास्त्वं नोऽ अदितिः कृणोतु क्षत्रं नोऽ अश्वो वनताᳪं हविष्मान् ॥४८॥

(अश्वः) किरणों से व्याप्त और (हविष्मान) उदक प्रदान करनेवाला सूर्य, (नः) हमें (क्षत्रम्) उदक (निघ० १।१२), तथा धन (निघं० २।१७), (वनताम्) प्रदान करे। (वाजी) अन्न प्रदान करनेवाला सूर्य (नः) हमें (सुगव्यम्) उत्तम गौओं से प्राप्त दुग्धादि, (स्वश्व्यम्) उत्तम घोड़ों से प्राप्त सुख, (पुंसः) पौरुषसम्पन्न पुरुषार्थी तथा वृद्धिशील (पुत्रान्) पुत्रों, (उत) और (विश्वापुषम्) सब को पुष्टि देनेवाली (रयिम्) सम्पत्ति (वनताम्) प्रदान करे। तथा (अदितिः) पृथिवी (नः) हमें (अनागास्त्वम्) पापों और अपराधों से रहित (कृणोतु) करे।

[अदितिः पृथिवीनाम (निघं० (१।१)। हविष्मान्=हविः उदकनाम (निघं० १।१२)। वाजी=वाजः अन्ननाम (निघं० २।७)। सूर्य की शक्ति के कारण गौ आदि की उत्पत्ति तथा सर्वपोषक सम्पत्तियां, उदक और धन

---

१. नक्षत्रमण्डल में स्थित एक तारे का नाम "गर्दभ" भी है। यथा—"this great circle is called the Ravimarg. It passes through or by the stars, स्वाहा, अनिल, गर्दभ, ख्याति, चित्रा, याम्य कीलक, दिव्य चञ्चला, दुर्योधन, मूलकीलक (Popular Hindu Astronomy), पृष्ठ ४। "गर्दभ" का अर्थ "शुभ्र कमल" भी होता है। गर्दभम्=white water lily (आपटे)। गर्दभ-नक्षत्र शुभ्रज्योतिर्मय है।

इसी प्रकार निघण्टु में दो अश्वियों के रथ के वाहक दो रासभ कहे हैं। यथा—"रासभौ अश्विनोः (१।१५)। मिथुन राशि के दो ताराओं को अश्विनौ कहते हैं। इन्हें castor और Pollux भी कहते हैं। 'रासभौ' तारे कर्कट राशि में हैं। यह राशि मिथुन के पूर्व में है। रासभौ ताराओं को ३ तथा ४ कर्कटस्य कहते हैं। अंग्रेजी में इन्हें "The twin asses" कहते हैं, अर्थात् दो गदहे (=रासभौ)।

हमें प्राप्त हो रही हैं। इन्हें प्राप्त कर हम सब पृथिवीवासी अपने-आप को पापों और अपराधों से रहित होने का यत्न करते रहें। अश्व का अर्थ यदि घोड़ा किया जाये, तो मन्त्रोक्त भावनाएँ उपपन्न नहीं हो सकतीं। गव्यम्, अश्व्यम्=अथवा गोसमूह और अश्वसमूह। गव्यम्=Herd of cows (आपटे), अर्थात् गौओं का समूह।]

—:o:—

अश्वमेध की आदित्यपरक-व्याख्या [२]

(अ० २९। मन्त्र ९-२४)

२४२. त्वष्टा वीरं देवकामं जजान त्वष्टुरर्वा जायतऽ आशुरश्वः।
त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहोः कर्त्तारमिह यक्षि होतः॥९

(त्वष्टा) रूपों का निर्माण करनेवाले कारीगर परमेश्वर ने (वीरम्) विविध अन्नों के उत्पादक, (देवकामम्) द्युतिसम्पन्नों में कमनीय या कान्तिसम्पन्न सूर्य को (जजान) जन्म दिया है। (त्वष्टुः) त्वष्टा से (अर्वा) सर्वप्रेरक और (आशुः) किरणों द्वारा शीघ्र पहुँचानेवाला (अश्वः) किरणों से व्याप्त सूर्य (जायते) उत्पन्न होता है। (त्वष्टा) त्वष्टा ने (इदम्) यह (विश्वम्) सब (भुवनम्) विद्यमान जगत् (जजान) पैदा किया है। (होतः) हे समर्पण करनेवाले उपासक! (बहोः) बहुविध जगत् के (कर्त्तारम्) रचयिता का (इह) इस जीवन में (यक्षि) तू पूजन किया कर।

[वीरम्=वि (विविध)+इरा अन्ननाम (निघं० २।७)। अर्वा=ईरणवान् (निरु० १०।३।३०)। आशुः=अश्नुते सद्यः।]

२४३. अश्वो घृतेन त्मन्या समक्तऽ उप देवाँ२ऽ ऋतुशः पाथऽ एतु। वनस्पतिर्देवलोकं प्रजानन्नग्निना हव्या स्वदितानि वक्षत्॥१०॥

(त्मन्या) आत्मीय अर्थात् अपने (घृतेन) प्रकाश से (समक्तः) सम्यक् अभिव्यक्त हुआ (अश्वः) किरणों से व्याप्त सूर्य, (ऋतुशः) ऋतुओं के

अनुसार (देवान्) द्युतिसम्पन्न भिन्न-भिन्न नक्षत्रों को, तथा (पाथः) उदक और अन्नों को (उप एतु) प्राप्त होता है। (वनस्पतिः) किरणों का स्वामी सूर्य (देवलोकम्) द्युतिसम्पन्न नक्षत्रलोक को (प्रजानन्) मानो जानता हुआ [उप एतु] उसे प्राप्त होता है। वह (अग्निना) निज अग्नि के द्वारा (हव्या) खाद्य पदार्थों का (स्वदितानि) स्वादयुक्त कर (वक्षत्) हमें पहुंचाता है।

[घृतेन=घृ क्षरणदीप्त्योः। यहां दीप्ति अर्थ अभिप्रेत है। यथा—"जिघर्ति दीप्यते तत् घृतम् प्रदीप्तम्" (उणा० ३।८९) महर्षि दयानन्द। पाथः=उदकम; अन्नम् (उणा० ४।२०५; ४।२०६)। वनस्पतिः=किरणों का रक्षक सूर्य (महर्षि दयानन्द)। वनस्पति="अग्निः इति शाकपूणिः" (निरु० ८।३।१९)। वनम्=वनानां वननकर्मणाम् आदित्यरश्मीनाम् (निरु० १३(१४),२(१), ७२(१३)। अतः वनस्पतिः=रश्मियों का रक्षक या स्वामी सूर्य।]

२४४. प्रजापतेस्तपसा वावृधानः सद्यो जातो दधिषे यज्ञमग्ने।
स्वाहाकृतेन हविषा पुरोगा याहि साध्या हविरदन्तु देवाः॥
११॥

(अग्ने) हे अग्निमय सूर्य! (प्रजापतेः) प्रजाओं के रक्षक परमेश्वर के (तपसा) प्रताप द्वारा, या उसके दिये ताप द्वारा (वावृधानः) बढ़ता हुआ, या बढ़ाता हुआ, (सद्यः) प्रतिदिन (जातः) प्रकट हुआ, (यज्ञम्) हमारे यज्ञकर्मों को (दधिषे) तू धारित तथा परिपुष्ट करता है। (पुरोगा) हे [नक्षत्रों और ताराओं में] अग्रणी! (आ याहि) प्रतिदिन आया कर, उदित हुआ कर। ताकि (स्वाहाकृतेन) यज्ञार्थ आहुति दिये (हविषा) अन्न द्वारा (साध्याः) साधना-सम्पन्न (देवाः) दिव्यगुणी लोग (हविः) आहुत अन्न का (अदन्तु) भक्षण किया करें।

[मन्त्र में सूर्य का सम्बोधन, तथा 'आयाहि" पद द्वारा उस के आगमन का वर्णन कवितारूप में है। वेद काव्यरूप हैं, और वेद का स्वामी परमेश्वर कवि है। यथा—"देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति" (अथर्व० १०।८।३२), 'केन त्वमथर्वन् काव्येन केन जातेनासि जातवेदाः" (अथर्व० ५।११।२), "कवि काव्येन परि पाह्यग्ने" (अथर्व० ८।३।२०); "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" (यजुः ४०।८)। वावृधानः=मन्त्र में सूर्य के तपस् अर्थात् ताप का वर्णन है, जो कि ग्रीष्म ऋतु में दिनों-दिन बढ़ता जाता है, तथा

सूर्य द्वारा स्थावर-जङ्गम जगत् की वृद्धि होती रहती है। प्रातःकाल सूर्योदय होने पर अग्निहोत्रादि यज्ञों का प्रारम्भ होता है, इस प्रकार सूर्य यज्ञों की रक्षा तथा परिपोषण करता है। साधनानिष्ठ देवकोटि के लोग यज्ञ करके अन्न ग्रहण करते हैं--**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः** (गीता)। अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ, बलि तथा वैश्वदेवयज्ञ भी यज्ञिय कर्म हैं। **हविः=अन्न** (महर्षि दयानन्द) **पुरोगा=सूर्य अपने सौरमण्डल में अग्रणी है।** प्रत्यक्षदृष्टि में सूर्य से बढ़कर अन्य कोई प्राकृतिक पदार्थ प्रभावशालो नहीं है। **साध्याः= साध्य+अर्श आद्यच्** (अष्टा० ५।२।१२७)।]

२४९. यदक्रन्दः प्रथमं जायमानऽ उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहूऽ उपस्तुत्यं महि जातं तेऽ अर्वन्॥
१२॥

(अर्वन्) हे प्रेरणाप्रद सूर्य! (समुद्रात्) अन्तरिक्ष से (उत वा) अथवा (पुरीषात्) जलमय पार्थिव समुद्र से (उद्यन्) उदित होता हुआ, और (प्रथमम् जायमानः) पहिले प्रकट हुआ, (यद्) जो (अक्रन्दः) प्राणि-जगत् को व्यवहारों में प्रवृत्त होने के लिये तू आह्वान करता है, उस समय मानो तुझे (श्येनस्य) बाज पक्षी के (पक्षा) पंख लगे होते हैं, या (हरिणस्य) हरिण की (बाहू) टांगें। (ते) तेरा (जातम्) प्रकट होना (महि) महा (उपस्तुत्यम्) प्रशंसनीय है।

[मन्त्र कवितामय है। अन्तरिक्ष अथवा समुद्र से उदित होना घोड़े के सम्बन्ध में उपपन्न नहीं हो सकता। भूवासियों को सूर्य अन्तरिक्ष से उदित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है, और द्वीपवासियों तथा समुद्रयात्रियों को विस्तृत समुद्र से। जब सूर्य उदित हो जाता है, तब प्राणी अपने-अपने व्यवहारों में प्रवृत्त हो जाते हैं। प्रातःकाल सूर्य मानो श्येन के सदृश उड़कर, या हरिण की तरह छलांगें मारता हुआ पुनः शीघ्र आ पहुँचा है। सूर्य की किरणों को वेद में "**सुपर्णाः**" भी कहा है। **सुपर्णाः का अर्थ होता है—"उत्तम पंखोंवाले" पक्षी।** तथा इसी दृष्टि से किरणों को "**वयः**" अर्थात् पक्षी भी कहा है। यथा—"**वयः सुपर्णाः उपसेदुरिन्द्रम्**" (ऋ० १०।७३।११)। इस की व्याख्या में निरुक्तकार लिखते हैं कि "**वयो वेर्बहुवचनम्। सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः**" (४।१।२)। **समुद्रः अन्तरिक्षनाम** (निघं० १।३)। **पुरीषम् उदकनाम** (निघं० १।१२)। **अक्रन्दः=क्रदि आह्वाने।**]

२४६. यमेनं दुत्तं त्रितऽ एनमायुनगिन्द्रऽ एणं प्रथमोऽ अध्यतिष्ठत् । गन्धर्वोऽ अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरंतष्ट॥१३

(यमेन) नियामक परमेश्वर द्वारा (दत्तम्) दिये (एनम् अश्वम्) इस सूर्य को (त्रित:) तीन लोकों में व्याप्त परमेश्वर (आ युनक्) इस के निज व्यापार में नियुक्त करता है, (प्रथमः) अनादि (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (एनम्) इस का (अध्यतिष्ठत्) अधिष्ठाता है। (गन्धर्वः) सूर्य को धारण करनेवाले परमेश्वर ने (अस्य) इस की (रशनाम्[1]) वाग्-डोर को (अगृभ्णात्) ग्रहण किया हुआ है, (सूरात्) ऐसे सूर्य से (वसव:) सात रश्मियों ने (अश्वम्) एक शुक्लरश्मि का (निरतष्ट) निर्माण किया है।

[सूर्य इतनी महाशक्ति है कि उस की रचना,उसे निज कर्म में नियुक्त करना, उस का अधिष्ठाता होना, उस की बागडोर को अपने हाथ में लेना, विना परमेश्वर के असम्भव है। वही परमेश्वर ये सब कार्य कर रहा है। गन्धर्व:=गो (सूर्य)+धृ (धारणे)। यथा—"उतादः परुषे गवि" (ऋ० ५।५६। ३); "आदित्योऽपि गौरुच्यते" (निरु० २।२।६)। वसव:=रश्मिनाम (निघं० १।५)। सूर्य की सप्तरंगी सात रश्मियां मिलकर एक शुक्लरश्मि का निर्माण करती हैं, जिसे कि मन्त्र में 'अश्वम्' कहा है। "एको अश्वो वहति सप्तनामा" (ऋ० १।१६४।२)। इस मन्त्र में 'अश्व' अर्थात आदित्य को 'सप्तनामा' कह कर उस की सप्तरंगी सात रश्मियों का निर्देश किया है। वर्षर्तु में इन्द्रधनुष में इन सात रंगों की पट्टियां स्पष्ट दिखाई देती हैं। यजुर्वेद २६।२१ (मन्त्रक्रमांक २५४) में सूर्य की रश्मियों को भी "अश्वा:" कहा है, क्योंकि ये आशु गतिवाली हैं। अश्व:=अश्नुते,अशूङ् व्याप्तौ।]

२४७. असि यमोऽ अस्यादित्योऽ अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन । असि सोमेन समया विपृक्तऽ आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥१४॥

(अर्वन्) हे प्रेरक सूर्य! (यमः) तू सौरमण्डल का नियन्ता (असि) है। तू (आदित्य:) पार्थिव रसों का आदान करता, तथा ज्योतिर्मय नक्षत्र-तारा आदि की प्रभा को निज प्रकाश द्वारा अभिभूत करता (असि) है।

---

१. रस्सी के तुल्य किरणों को (महर्षि दयानन्द)।

तू (त्रितः) पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में निज रश्मियों द्वारा प्राप्त है, (गुह्येन व्रतेन) गुह्यकर्म द्वारा। (समया) समीपता की दृष्टि से (सोमेन) चन्द्रमा के साथ (विपृक्तः) तू कभी विशेष सम्पर्क में होता है, और कभी सम्पर्क से विगत अर्थात् रहित हो जाता है। (दिवि) द्युलोक में (ते) तेरे (त्रीणि) तीन (बन्धनानि) बन्धन हैं, (आहुः) वैदिक वर्णन ऐसा कहते हैं। तीनबन्धन,देखो—(अ० २५, मं० ४२); मन्त्रक्रमाङ्क(२३८)।

[यम आदि नाम सूर्य के हैं, जो कि सूर्य के विशिष्ट गुणधर्मों और कर्मों का वर्णन करते हैं। अश्वमेध में घोड़े के सम्बन्ध में ये वर्णन उपपन्न नहीं हो सकते। 'आदित्य' नाम तो घोड़े का हो ही नहीं सकता। यही परिस्थिति यम और त्रित के सम्बन्ध में है। न घोड़े का सम्बन्ध चन्द्रमा के साथ उपपन्न होता है। "दिवि" पद तो विशेषरूप में उस अश्व का वर्णन करता है, जिस का कि स्थान द्युलोक में है। अतः अश्व का अभिप्राय सूर्य है, नकि घोड़ा। पूर्णमासी में सूर्य दूर रहता है चन्द्रमा से, और अमावास्या में सूर्य और चान्द समीप-समीप हो जाते हैं। विपृक्तः=विशेषण पृक्तः सम्पृक्तः, सम्पर्कसहितः। तथा—विपृक्तः=विगतसम्पर्कः, सम्पर्करहितः। अमावास्या=अमा सह वसतः सूर्याचन्द्रमसौ यस्यां तिथौ सा। "सूर्याचन्द्रमसोः यः परः सन्निकर्षः साऽमावस्या" (गोभिल)। व्रतम् कर्मनाम (निघं० २।१) गुह्येन व्रतेन =द्युलोक में तो सूर्य चमकता, पूर्व से पश्चिम में जाता, पुनः पूर्व में उदित होता हुआ तथा पश्चिम में अस्त होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। परन्तु पृथिवी-अन्तरिक्ष में ये कर्म गुप्तरूप में हो रहे हैं[1]। त्रितः=त्रिषु स्थानेषु इतः प्राप्तः]

२४८. त्रीणि तऽ आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा तऽ आहुः परमं जनित्रम् ॥१५

(अर्वन्) हे प्रेरणा देनेवाले! (दिवि) द्युलोक में (ते) तेरे (त्रीणि) तीन (बन्धनानि) बन्धन हैं, (त्रीणि) तीन बन्धन (अप्सु) जलीय समुद्र

---

१. यथा—"इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूळ्हमस्य पांसुरे॥ (ऋ० १।२२।१७) पर निरुक्त—"समूळ्हमस्य पांसुरेऽप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यते॥ अपि वोपमार्थे स्यात् समूळ्हमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति॥ (१२।२।१९)। वस्तुतः पृथिवी पर भी उस का प्रकाश ही दीखता हैं, सूर्य की रश्मियां नहीं दीखतीं। "पांसुर" का अर्थ धूलिवाली पृथिवी भी होता है।

में, (त्रीणि) और तीन (समुद्रे अन्तः) अन्तरिक्ष के भीतर हैं, ऐसा (आहु:) वेदमन्त्र कहते हैं। वेदमन्त्र (यत्र) जहां (ते) तेरा (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (जनित्रम्) जन्मस्थान (आहुः) कहते हैं, उसे (मे) मेरे लिये (छन्त्सि) स्वेच्छापूर्वक कह। (उत इव) मैं उत्प्रेक्षा करता हूँ कि वह तेरा जन्मस्थान (वरुणः) वरणीय सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर है।

[बन्धनानि=दिवि, अप्सु, समुद्रे (देखो मन्त्र २३८, २४७)। छन्त्सि= छन्दः इच्छा (उणा० ४।२२०), महर्षि दयानन्द। प्रश्न और उत्तर कविता-रूप में हैं। इसीलिये मन्त्र में उत्प्रेक्षा की गई है।]

२४९. इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानाᳬं सनितुर्निधाना। अत्रा ते भद्रा रशनाऽ अपश्यमृतस्य याऽ अभिरक्षन्ति गोपाः ॥१६॥

(वाजिन्) हे शक्तिसम्पन्न अन्नोत्पादक सूर्य ! (इमाः ते) ये तेरी (रशनाः) रश्मियां, (अव) नीचे पृथिवी को (मार्जनानि) शुद्ध तथा परिपुष्ट करती हैं, (इमाः) ये (शफानाम्) जड़ी-बूटियों तथा जड़ोंवाली ओषधियों और वनस्पतियों के (सनितुः) दाता परमेश्वर की (निधाना= निधानानि) निधियां हैं। (अत्र) इस जगत् में (ते) तेरी (रशनाः) रश्मियों को (भद्राः) सुखदायक (अपश्यम्) मैं देखता हूं, जानता हूं, (याः) जो कि (ऋतस्य) जल की (गोपाः) रक्षिकाएं (अभि रक्षन्ति) सब प्रकार से हमारी रक्षा कर रही हैं।

[शफानाम्=शफम् The root of a tree (आपटे), अर्थात् वृक्षों की जड़े। वृक्ष की जड़ को "पाद" भी कहते हैं, अतः वृक्षों को "पादप" कहते है। सूर्य की रश्मियों के कारण जल की वर्षा होती, और ओषधि वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं। इन्हें जल जड़ों द्वारा मिलता है, इसलिये इन का वर्णन "शफानाम्" पद द्वारा किया गया है। ऋतस्य उदकनाम (निघं०- १।१२)। रशनाः=यद्यपि रशना का अर्थ है, रस्सी, तथापि रस्सी के तुल्य रश्मियों को मन्त्र में 'रशना' कहा है। यजुर्वेद २९।१३ (मन्त्रक्रमाङ्क २४६) की व्याख्या में महर्षि दयानन्द "रशनाम्" का अर्थ करते हैं, रस्सी के तुल्य किरणों की गति को"। रशना, रश्मि, दोनों शब्द अशूङ् व्याप्तौ से से व्युत्पन्न हैं।]

२५०. आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम् ।
शिरोऽ अपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि ॥१७॥

हे सूर्य ! (ते) तेरी (आत्मानम्) आत्मा को, (आरात्) समीप से (मनसा) मननपूर्वक (अजानाम्) मैंने जाना है। और (दिवा) दिन में (पतङ्गम्) पक्षी के सदृश (पतयन्तम् अवः) क्षितिज के नीचे से उड़कर आते हुए तुझे भी मैंने जाना है। (पतत्रि) हे पक्षिन् ! (सुगेभिः) सुगम तथा (अरेणुभिः) रेणुरहित (पथिभिः) आकाश के मार्गों द्वारा (जेहमानम्) जाते हुए (शिरः) सिर के सदृश गोलाकार तुझ को (अपश्यम्) मैं देखता हूं।

[सूर्य की आत्मा है—जगदात्मा, जोकि सूर्य को नियम में चला रही है। जैसे कि—"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७)। अवः=अवस्तात्, क्षितिज के नीचे से । सूर्य प्रातःकाल मानो पृथिवी के नीचे से उदित होता, मध्याह्न में आकाश की चोटी तक चढ़ता और पुनः सायंकाल नीचे की ओर आता हुआ, पश्चिम में पृथिवी के नीचे अस्त हो जाता है। जेहमानम्=जेहृ प्रयत्ने, गतौ च । मन्त्र में सूर्य को उड़ता हुआ पक्षी कहा है। घोड़ा न उड़ सकता है, और न सिर की तरह गोल है।]

२५१. अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिषऽ आ पदे गोः ।
यदा ते मर्त्तोऽ अनु भोगमानड् आदिद् ग्रसिष्ठऽओषधीरजीगः॥
१८॥

हे सूर्य ! (अत्र) इस पृथिवी में (ते) तेरे (उत्तमम्) सर्वोत्तम (रूपम्) रूप को (अपश्यम्) मैं देखता हूं, जो कि (गोः) पृथिवी के (पदे) स्थान में (इषः) अन्नों पर (आ जिगीषमाणम्) सर्वत्र या पूर्णतया विजय पा रहा है। (यदा) जब (मर्त्तः) मनुष्य (ते) तेरे द्वारा दिये (भोगम्) भोग्यों को (अनु) निरन्तर (आनट्) प्राप्त करता या भोगता रहता है, (आत् इत्) तदनन्तर ही वह (ग्रसिष्ठः) अति खानेवाला, अतिभोगी हुआ-हुआ (ओषधीः) ओषधियों को (अजीगः) निगलने लगता है। जैसे कि हे सूर्य ! तू (अजीगः) ग्रीष्म ऋतु में ओषधियों को निगलता है, पूर्णतया सुखा देता है।

[अति भोगी मनुष्य नानाविध ओषधियां खाता-पीता है। अतः अतिभोग हानिकारक है।]

२८२. अनु॑ त्वा॒ रथो॒ऽ अनु॒ मर्यो॑ऽ अर्व॒न्ननु॒ गावो॒ऽनु॒ भगः॑ क॒नी-नाम्। अनु॒ व्राता॑स॒स्तव॑ स॒ख्यमी॑यु॒रनु॑ दे॒वा म॑मिरे वी॒र्यं॑ ते ॥ १९॥

(अर्वन्) हे प्रेरणा देनेवाले आदित्य! (त्वा अनु) तेरी अनुकूलता में (रथः) रथ आदि रमणीय पदार्थ प्राप्त होते हैं, (अनु) तेरी अनुकूलता में (मर्यः) उन का भोक्ता मनुष्य होता है। (अनु) तेरी अनुकूलता में (गावः) गौएं मिलती हैं, (अनु) तेरी अनुकूलता में (कनीनाम्) दीप्ति को ग्रहण करनेवाली कनीनिकाओं अर्थात् आंख की पुतलियों का (भगः) भाग्योदय होता है। (अनु) तेरे नाम के अनुरूप (व्रातासः) व्रती मनुष्य (तव) तेरी (सख्यम्) ख्याति के समान ख्याति को (ईयुः) प्राप्त होते हैं, अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारी कहलाने लगते हैं, (अनु) तदनन्तर (देवाः) ये आदित्य-देव (ते) तेरे (वीर्यम्) सामर्थ्य को (ममिरे) नाप या जान पाते हैं।

[कनीनाम्=कनी दीप्तौ। कनीनिका, कनीनी the pupil of the eye (आपटे), अर्थात् आंख की पुतली। व्रातासः=व्राताः मनुष्यनाम (निघं०-२।३)। गावः=अथवा सूर्य की किरणें। यथा—'सर्वे रश्मयो गाव उच्यन्ते" (निरु० २।२।८)। कनीनाम् के सम्बन्ध से गावः का अर्थ रश्मियां उपयुक्त प्रतीत होता है। सख्यम्=सखायः समानख्यानाः (निरु० १३।१।१३; तथा ७।७।३०)। अभिप्राय यह कि आदित्यसम तेजस्वी बनने के लिये, जब मनुष्य, "आदित्यब्रह्मचर्य व्रत" के पालन का व्रतग्रहण करते हैं, तब व्रत पूरा होने पर वे भी आदित्य कहलाने लगते हैं। तदनन्तर वे देवकोटि के बन कर आदित्यशक्ति को जान पाते हैं।]

२८३. हिर॑ण्यशृ॒ङ्गोऽयो॑ऽ अस्य॒ पादा॒ मनो॑जवा॒ऽ अव॑र॒ऽ इन्द्र॑ऽ आसीत्। दे॒वाऽ इद॑स्य हवि॒रद्य॑माय॒न्यो॑ऽ अर्व॑न्तं प्रथ॒मो अ॒ध्यति॑ष्ठत् ॥२०

आदित्य (हिरण्यशृङ्गः) सोने के सींगोंवाला अर्थात् सुवर्णसदृश प्रदीप्त किरणोंवाला है, (अस्य) इस के (पादाः) पैर (अयः) सुवर्णमय हैं, (मनोजवाः) और मन के सदृश वेगवाले हैं, (अस्य) इस की (देवाः) द्युति-

सम्पन्न रश्मियां (इत्) ही (अद्यम्) खाने-योग्य (हविः) अन्न (आयन्) प्राप्त कराती हैं। (यः) जो (प्रथमः) अनादि और व्यापक (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (अर्वन्तम्) प्रेरणा देनेवाले आदित्य का (अध्यतिष्ठत्) अधिष्ठाता है, वह परमेश्वर (अवरः) सर्वश्रेष्ठ (आसीत्) है।

[हिरण्यशृङ्गः=अश्वमेधीय अश्व अर्थात घोड़े के न तो सींग होते हैं, और न सोने के ही सींग। इस शब्द के द्वारा आदित्य का ही वर्णन हुआ है। शृङ्ग का अर्थ है—किरणें। यथा—"सर्वे रश्मयो गाव उच्यन्ते"—ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि।। (ऋ० १।१५४।६), तथा (निरुक्त २।२।८)। अयः=हिरण्यनाम (निघं० १।२)। पादाः=रश्मियां। यथा—"त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः" (ऋ० १।२२।१७)। तथा—"बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम्" (पंचतन्त्र १।३२८), तथा शिशुपालवध ९।३४; रघुवंश १६।५३)। हविः अन्ननाम (निघं० १।१२) अवरः=अविद्यमानः वरः श्रेष्ठः यस्मात्। भूरिशृङ्गाः=शृङ्गाणि ज्वलतो नाम (निघं० १।१७)। मनोजवाः=आदित्य की रश्मियां एक मिनिट में एक करोड़ मीलों के लगभग गति करती हैं।]

२८४. ई॒र्मान्ता॑सः॒ सिलि॑कमध्यमासः॒ सꣳशूर॑णासो दि॒व्यासो॒ऽअत्याः॑। ह॒ꣳसाऽइ॑व श्रे॒णि॒शो य॑तन्ते॒ यदाक्षि॑षुर्दि॒व्यमज्म॒मश्वाः॑ ॥२१॥

(ईर्मान्तासः) जिन के प्रान्तभाग संकुचित तथा विस्तारी हैं (सिलिकमध्यमासः) जो बीच-बीच में परस्पर मिली हुई हैं, (संशूरणासः) जो कि सम्यक् गतिशील हैं, (दिव्यासः) जो द्युलोक में उत्पन्न हुई हैं, (अत्याः) जो कि सततगतिशील हैं, ऐसी (अश्वाः) व्यापनशील आदित्य-रश्मियां, जब (दिव्यम्) द्युलोक के (अज्मम्) मार्ग में (यतन्ते) यत्नपूर्वक चलतीं, और (आक्षिषुः) सब ओर व्याप्त होती हैं, तब मानो ये रश्मियां (हंसाः इव) हंसों के सदृश (श्रेणिशः) श्रेणिबद्ध होकर (यतन्ते) यत्नपूर्वक चल रही होती हैं।

[मन्त्र में "अश्वाः" बहुवचन है। आदित्य तो एक है, इसलिये अश्वाः का अर्थ है—रश्मियां। वेद में आदित्य को अश्व कहा है, जिस की कि एक-एक शुभ्र-रश्मि की घटक-रश्मियां सप्तरंगी सात हैं। यथा—"एकोऽश्वो वहति

सप्तनामा (ऋ० १।१६४।२)। निरुक्त में कहा है कि—'एकोऽश्वो वहति सप्तनामादित्यः, सप्तास्मै रश्मयो रसानभि सन्नामयन्ति"(निरु० ४।४।२७)। वेद में आदित्य को "सप्तरश्मिः" कहा है। यथा—"यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान् अवासृजत् सर्तवे सप्तसिन्धून् (अथर्व० २०।३४।१३)। ये सात रश्मियां निम्नलिखित हैं–१. Red(लाल); २. Orange(नारङ्गी रङ्ग की); ३. Yellow (पीली); ४ green (हरी); ५. Blue (आस्मानी नीली); ६. indigo (नीलरङ्ग-जैसी नीली); ७. Violet(बैंगनी)। इन सात प्रकार की रश्मियों के मिश्रण से आदित्य की शुक्लरश्मि का निर्माण होता है, और आदित्य की एक शुक्ल रश्मि के विभाजन से उपर्युक्त सप्तरंगी सात रश्मियां पैदा होती हैं, जैसे कि वर्षा-ऋतु में हल्के बादलों पर आदित्य-रश्मियों के पड़ने से इन्द्र-धनुष में सातरंग की पट्टियां दृष्टिगोचर होती हैं। सप्तरंगी सात रश्मियां की बड़ी और छोटी तरङ्गें या लहरें होती हैं, जिन्हें wave-lengths अर्थात् तरङ्ग-लम्बाईयां कहते हैं। लाल रंगवाली रश्मि की तरङ्ग-लम्बाई अन्य ६ रंगोंवाली रश्मियों की तरङ्ग-लम्बाईयों से अधिक बड़ी होती हैं, जिसे कि "ईर्मान्तासः" की व्याख्या में निरुक्तकार ने "पृथ्वन्ताः वा" द्वारा सूचित किया है। "पृथ्वन्ताः" का अर्थ है—"प्रान्त की विस्तृत या विस्तारी तरङ्गें। 'पृथ्वन्ता वा' में "वा" पद "च" के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इस-लिये "ईर्मान्तासः" का निरुक्तकार ने दूसरा अर्थ दिया है—"समीरितान्ताः" अर्थात् संकुचित अन्त-वाली-तरङ्गें। सब से संकुचित अर्थात् छोटी तरङ्ग-violet अर्थात् बैंगनी रंग की तरङ्ग-लम्बाई होती है। इसी प्रकार सप्त-रंगी रश्मियों की, दो ओर की अन्त की, तरङ्ग-लम्बाइयों को "ईर्मा-न्तासः" द्वारा मन्त्र में सूचित किया है। निरुक्तकार ने "सिलिकमध्यमासः"[1] का अर्थ किया है—"संसृतमध्यमाः'। इस का अर्थ है—"परस्पर मिलकर सरण करनेवाली" रश्मियाँ। ये सातों रश्मियां परस्पर मिलकर चलती हैं। यदि ये परस्पर मिलकर न चलें, तो आदित्य की शुक्लरश्मि का निर्माण नहीं हो सकता। सातों रश्मियों के मेल से ही शुक्लरश्मि का निर्माण होता है।

---

१. सिलिकमध्यमासः—सम्भवतः षिञ् (बन्धने)+ली(श्लेषणे)+ क्त+उः (उणा०)। मध्य की अर्थात् २ से ६ तक की रश्मियां परस्पर में "सम्बद्ध हुई-हुई" तथा प्रान्तों की १ और ७ संख्याओं की रश्मियों के साथ "संश्लिष्ट हुई शुक्लरश्मि के निर्माण का कार्य करनेवाली होती हैं।

संशूरणासः=शूरः शवतेर्गतिकर्मणः, अर्थात् परस्पर के संगम में चलनेवाली रश्मियां। दिव्यासः=दिविजाः, अर्थात् द्युलोक में उत्पन्न। दिव्यासः अर्थात् दिविजाः शब्द के द्वारा सूचित होता है कि मन्त्रोक्त "अश्वाः" शब्द द्युलोक में उत्पन्न रश्मियों का वाचक है, पृथिवीस्थ अश्वमेधीय घोड़ों का वाचक नहीं। अत्याः शब्द भी इसी भाव का द्योतक है। अत्याः का अर्थ है—सततगतिशील; अत सातत्यगमने। आदित्य की रश्मियां सतत गतिशील हैं। घोड़े सततगतिशील नहीं होते। उन्हें विश्राम की आवश्यकता होती है। हंसाः=रश्मियों की श्रेणिबद्ध गति में हंसों की श्रेणिबद्ध गतियों को उपमान रूप में कथित किया है। हंसों का वर्ण शुक्ल होता है। इस उपमा द्वारा यह दर्शाया है कि आदित्य के अश्वों अर्थात् रश्मियों का वर्ण भी शुक्ल होता है। परन्तु यह शुक्ल वर्ण, सप्तरंगी सात रश्मियों के परस्पर संमिश्रण द्वारा निर्मित होता है। इस प्रकार मन्त्र में सप्तरंगी सात रश्मियों, और आदित्य की साधारण रश्मियों, इन दोनों का वर्णन हुआ है, और ये दोनों ही दिव्य-अश्वरूप हैं।]

२९९. तव॒ शरी॑रं पतयि॒ष्ण्व॑र्व॒न् तव॑ चि॒त्तं वात॑ऽ इव॒ ध्रजी॑मान् ।
तव॒ शृङ्गा॑णि॒ विष्ठि॑ता पुरु॒त्रार॑ण्येषु॒ जर्भु॑राणा चरन्ति ॥२२॥

(अर्वन्) हे प्रेरणा देनेवाले आदित्य ! (तव) तेरा (शरीरम्) शरीर या स्वरूप (पतयिष्णु) पश्चिम में अस्त अर्थात् पतन होने को है, और (तव) तेरी (चित्तम्) चेतनता भी (पतयिष्णु) पतन होने को है। अतः तू (वात इव) वायु की तरह (ध्रजीमान्) चञ्चल या क्षुब्धसा हो रहा है। परन्तु अभी भी (तव) तेरे (शृङ्गाणि) सींग-सदृश, या जलती-हुई रश्मियां (पुरुत्रा) बहुत स्थानों में (विष्ठिता) विविध रूपों में स्थित हैं, और (अरण्येषु) वनों में (जर्भुराणा) अन्धकार का अपहरण करती हुई (चरन्ति) विचरती हैं।

[आदित्य हमें चेतना देता है। अतः चेतनता देनेवाला भी चेतन होना चाहिये, यह मानकर कविता के शब्दों में चेतनरूप में आदित्य का वर्णन हुआ है। अन्धकार का विनाश करनेवाली आदित्य की रश्मियों को भी, कविता के शब्दों में 'शृङ्गाणि' कहा है। पशुओं के सींग शत्रु के साथ युद्ध के लिये होते हैं, वैसे ही आदित्य की रश्मियां अन्धकार के साथ युद्ध लड़ती हैं। जड़ का भी वर्णन चेतन की तरह होता है, इस सम्बन्ध में निरुक्त

का प्रकरण विशेष प्रकाश डालता है। यथा—"अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्ष-प्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि" ॥ "यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इत्यचेतनेष्वप्येतत् भवति" ॥ "यथो एतत्पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि तादृशमेव" ॥ "यथो एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरित्येदपि तादृशमेव"॥ (निरुक्त ७।३।७)। शृङ्गों का होना, और उन को विविध स्थानों में स्थिति, तथा अस्त होते हुए भी वनों में अन्धकार का विनाश करते हुए विचरना, घोड़े के सम्बन्ध में सर्वथा अनुपपन्न है । जर्भुराणा[1]=हृञ् हरणे + कानच्; "हृग्रहोर्भः छन्दसि" द्वारा "हृञ्" के हकार को "भ" हुआ है। मन्त्र में दर्शाया है कि मृत्युकाल में चेतना के क्षीण होने के साथ-साथ, व्यक्ति में क्षोभ तथा घबराहट पैदा होती है, इसी का आरोप पतनोन्मुख सूर्य में कविता में किया गया है।]

२६६. उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा दीध्यानः ।
अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात् कवयो यन्ति रेभाः॥ २३॥

(देवद्रीचा) उत्पादक देव की ओर पहुंचे हुए (मनसा) मन से (दीध्यानः) उत्पादक देव का मानो ध्यान करता हुआ, (वाजी) शक्तिशाली, और (अर्वा) प्रेरणा देनेवाला आदित्य, (शसनम्) अपने मृत्यु-स्थल के (उप) समीप (प्र अगात्) पहुंच गया है। (अस्य) इस आदित्य का (नाभिः) बन्धक अर्थात् नियन्ता (अजः) अजन्मा परमेश्वर, (पुरः) इसके संमुख (नीयते) मानो प्राप्त हुआ है। (पश्चात्) आदित्य के मृत्यु के समीप पहुंच जाने के पीछे, (रेभाः) परमेश्वर की स्तुति-उपासना करनेवाले (कवयः) स्तुत्युच्चारक मेधावी उपासक (अनु यन्ति) विध्यनुकूल उपासना का अनुसरण करते हैं।

[शसनम्=शस हिंसायाम्। अजः=अजन्मा परमेश्वर। नाभिः= नह बन्धने। कवयः=कु शब्दे तथा कविः मेधावी (निघं० ३।१५)। रेभाः=स्तोतृनाम (निघं० ३।१६), तथा रेभति अर्चतिकर्मा (निघं० ३।१४)। अभिप्राय यह कि मानो आदित्य प्रतिदिन अस्त होता हुआ, अगले दिन पुनः जन्म धारण कर उदित होता है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी जन्म मरण की व्यवस्था में बन्धा हुआ

---

१ धारण-पोषण करनेवाले (म० दयानन्द)। इस दृष्टि में प्रयोग "भृञ्" धातु का है। भृञ् धारणपोषणयोः। अर्थात् अरण्यवासियों का धारण-पोषण करनेवाले। तथा भुरण्यति गतिकर्मा (निघं० २।१४)। इस दृष्टि में अर्थ होगा—सक्रिय। अर्थात् अभी भी अन्धकारापहरण तथा भरण-पोषण में सक्रिय=क्रियाशील।

है। प्रत्येक मनुष्य को मृत्युकाल में मन के द्वारा परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये, और संसारिक चिन्ताओं से मन को हटा लेना चाहिये। आदित्य के अस्त हो जाने पर सायंकाल की स्तुति-उपासना में प्रवृत्त हो जाना चाहिये। आदित्य के सम्बन्ध में शेष वर्णन कवितामय है। मन्त्रक्रमाङ्क (२५५,२५६) दोनों कविता-प्रधान हैं।

२५७. उप प्रागात्परमं यत्सधस्थमर्वाँ२ऽ अच्छा पितरं मातरं च।
अद्या देवाञ्जुष्टतमो हि गम्याऽ अथा शास्ते दाशुषे वार्याणि॥ २४॥

(यत्) जो (परमम्) दूर तथा सर्वश्रेष्ठ (सधस्थम्) सहवासस्थान द्युलोक है, उस के (उप) समीप, (अर्वान् =अर्वा) प्रेरणा देनेवाला, (जुष्टतमः) बहुसेवित आदित्य (अद्य) आज अस्तकाल में (प्र अगात्) पहुँच गया है। (पितरम् मातरम्) पिता द्युलोक तथा माता अन्तरिक्षलोक, (च) और (देवान्) द्युतिसम्पन्न नक्षत्रगणों के (अच्छ हि) संमुख ही (गम्याः) तू गया है, पहुँचा है। (अथ) अब पुनः (वार्याणि) वरणीय श्रेष्ठ वस्तुओं के (दाशुष) प्रदान के लिये (आ शास्ते) प्रत्येक प्राणी तुझ से आशा करता है।

[आदित्य के अस्त हो जाने पर सब वरणीय पदार्थ अन्धकार में लीन हो जाते हैं, और सूर्य के उदय होने पर प्राप्त हो जाते हैं। यह आदित्य का दान है, जिस की आशा सब करते हैं। इस मन्त्र के द्वारा यह दर्शाया है कि अस्तकाल में आदित्य की मृत्यु नहीं हुई, अपितु उस काल में वह माता-पिता तथा साथी नक्षत्रों के पास ही गया है, और जिसका पुनरागमन अर्थात् पुनः उदय होना है। इसी अभिप्राय में आशा का किया जाना सार्थक हो सकता है। अश्वमेध में यदि घोड़े को मारने का विधान हो, तो मृत घोड़े से कोई आशा करनी व्यर्थ है। **पितरम्, मातरम्=द्यौष्पिता अन्तरिक्षं माता। यथा—"मातरिश्वा=मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति,मातरि अन्तरिक्षे आशु अनिति" (निरु० ७।७।२६)।**

बृहदारण्यक-उपनिषद् यजुर्वेद की ही उपनिषद् है, और यजुर्वेद का अनुसन्धान करनेवाले, तथा यजुर्वेद पर "शतपथ" के कर्त्ता याज्ञवल्क्य द्वारा ही प्रणीत है। इसलिये यजुर्वेद के अश्वमेध के स्वरूप पर बृहदारण्यक

में जो वर्णन मिलता है, वह इस विषय में सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है कि अश्व-मेध में अश्व द्वारा आधिदैविक प्रकरण में सूर्य अर्थात् आदित्य का ही ग्रहण करना चाहिये। यथा—"एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति" (बृहदा०उप० अध्या० १। ब्रा० २) अर्थात् यह ही निश्चय से अश्वमेध है, जो यह तप रहा है। अर्थात् सूर्य का तपना अश्वमेध है, और सूर्य या आदित्य अश्व है। अश्व का अर्थ आदित्य है, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित भी प्रमाण है। यथा—"एको अश्वो वहति सप्तनामा" (ऋ० १।१६४।२)। इस पर निरुक्त में कहा है कि "एकोऽश्वो वहति सप्तनामादित्यः। सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति" (निरु० ४।४।२७)।]

पञ्चम खण्ड—आध्यात्मिक-प्रकरण

परमेश्वर [१]

२५८. तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि ।
धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥ ३।३५॥

(सवितुः) सब जगत् के उत्पादक, (देवस्य) प्रकाशस्वरूप तथा सुखदाता परमेश्वर के (तत्) उस (वरेण्यम्) अति श्रेष्ठ (भर्गः) पाप-नाशक तेजःस्वरूप को (धीमहि) हम अपने जीवनों में धारण करें, (यः) जो परमेश्वर कि (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों और कर्मों को (प्रचोदयात्) उत्तमोत्तम गुण कर्म स्वभावों में प्रेरित करे।

[प्रार्थना का मुख्य सिद्धान्त यही है कि जैसी प्रार्थना करनी, वैसा ही पुरुषार्थ से कर्म का आचरण भी करना चाहिये (म० दया०, भावार्थ)। महर्षि ने गायत्रीमन्त्र को "गुरुमन्त्र" कहा है (यजु० २२।१०,भावार्थ) ।]

२५९. अदि॑त्यास्त्व॒गस्यदि॑त्यै सद॒ऽ आसी॑द । अस्त॑भ्ना॒द् द्यां वृ॑ष॒भोऽ अ॒न्तरि॑क्ष॒ममि॑मीत वरि॒माणं॑ पृथि॒व्याः । आसी॑द॒द्विश्वा॒ भुव॑-नानि स॒म्राड् विश्वेत्तानि॒ वरु॑णस्य व्र॒तानि॑ ॥४।३०॥

हे परमेश्वर ! आप (अदित्याः) अदीना अर्थात् अनश्वर देवमाता प्रकृति के (त्वक्) आच्छादक (असि) हैं, (अदित्यै) अनश्वर प्रकृति में व्यवस्था स्थापन के लिये (सदः) उस प्रकृतिरूपी गृह में आप (आसीद) आसीन हैं। (वृषभः) सुखवर्षी आपने (द्याम्) द्युलोक को (अस्तभ्नात्) थामा हुआ है। (अन्तरिक्षम) अन्तरिक्ष को, और (पृथिव्याः) पृथिवी के (वरिमाणम्) विस्तार को (अमिमीत) आपने नापा हुआ है। (सम्राट्) जगत् का राजाधिराज (विश्वा) सब(भुवनानि) भुवनों में (आसीदत्) आसीन है। (तानि) वे (विश्वा) सब (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वा-च्छादक परमेश्वर के (व्रतानि) काम हैं।

[अदितिः=अदीना देवमाता (निरु० ४।४।२३), अ+दितिः (दीङ् क्षये)। अथवा दो अवखण्डने। त्वच्=संवरणे। वरिमाणम्=उरु=वर् (प्रियस्थिरेति, अष्टा० ६।४।१५७)+इमनिच्। व्रतानि=व्रतम् कर्मनाम (निघं० २।१)।]

२६०. वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पयऽ उस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ ॥४।३१॥

(वरुणः) सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वाच्छादक परमेश्वर ने (वनेषु) वनों में (अन्तरिक्षम्) आकाश को, (अर्वत्सु) घोड़ों में (वाजम्) वेग का, (उस्रियासु) गौओं में (पयः) दूध को, (हृत्सु) हृदयों में (क्रतुम्) प्रज्ञा और कर्म को, (विक्षु) प्रजाओं में (अग्निम्) अग्नि को, (दिवि) द्युलोक में (सूर्यम्) सूर्य को, और (अद्रौ) पर्वत और मेघ में (सोमम्) सोम ओषधि और जल को (विततान) विस्तारा है।

[क्रतुः=कर्म तथा प्रज्ञा (निघं० २।१, तथा ३।९)। अद्रिः=पर्वत, मेघ (निघं० १।१०)।]

२६१. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥६।४॥

हे प्रजाजनो! तुम (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (कर्माणि) सर्वोपकारी कर्मों को (पश्यत) देखा करो, जाना करो, (यतः) जिन कर्मों से (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (युज्यः) योग्य (सखा) सखा अर्थात् धर्मात्मा व्यक्ति (व्रतानि) अपने अनुष्ठान के योग्य (व्रतानि) परोपकार आदि कर्मों का (पस्पशे) ज्ञान प्राप्त करता है।

[सखा="समानख्यानः" (निरु० ७।७।३१), अर्थात् समानख्यातिवाला, समानगुणकर्म स्वभाववाला, जिसके कि गुणकर्मस्वभाव परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव के सदृश हैं। पश्यत, पस्पशे, पस्पशाह्निक (महाभाष्य)। तथा पश्यः (द्रष्टा जीवात्मा), यथा—"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्' (मुण्डक उप० ३।१।३), इत्यादि प्रयोगों में "देखना" अर्थ प्रतीत होता है। युज्यः=अथवा योगयुक्त-योगी।]

२६२. यस्मान्न जातः परोऽ अन्योऽ अस्ति यऽ आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥८।३६॥

(यस्मात्) जिस परमेश्वर से (परः) उत्तम (अन्यः) और कोई (न) नहीं (जातः) हुआ, और (यः) जो परमेश्वर (विश्वा) समस्त (भुवनानि) लोकों में (आ विवेश) सर्वत्र प्रविष्ट हो रहा है, (सः) वह (प्रजापतिः) उत्पन्न समग्र जगत् का स्वामी परमेश्वर (प्रजया) उत्पन्न जगत् द्वारा (संरराणः) उत्तम दाता होता हुआ (त्रीणि) तीन (ज्योतींषि) ज्योतियों अर्थात् सूर्य, बिजुली और अग्नि को (सचते) उत्पन्न करता है, वह (षोडशी) १६ पदार्थों का स्वामी है।

[रराणः=रा दाने। षोडशी=१६ पदार्थ हैं—इच्छा, प्राण, श्रद्धा, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, लोक और नाम इन सोलह कलाओं के स्वामी (म० दयानन्द)। अथवा—१ मन, १० इन्द्रियां, ५ भूत। यथा—मूलप्रकृतिरविकृतिः। महदादयः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारः, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

२६३. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेनऽआवः। स बुध्न्याऽ उपमाऽ अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः॥ १३।३॥

(पुरस्तात्) सृष्टि के आदि में (प्रथमम्) पहिले (ब्रह्म) परमेश्वर (जज्ञानम्) ईक्षावान् होता है, (वेनः) सृष्ट्युत्पादन की कामनावाला परमेश्वर (सीमतः) द्युलोकरूपी सीमा में (सुरुचः) उत्तम दीप्तिवाले नक्षत्रों और तारागणों को (वि आवः) आवरणरहित अर्थात् प्रकट करता है। (विष्ठाः) विविध स्थानों में स्थित, (बुध्न्याः) अन्तरिक्षव्यापी तारागण तथा सूर्य आदि (अस्य) इस परमेश्वर के ज्ञान के लिये (उपमाः) दृष्टान्तरूप हैं। (सः) वह परमेश्वर (सतः च) विद्यमान व्यक्त की (च) तथा (असतः) अव्यक्त की (योनिम्) योनिरूप प्रकृति को (विवः) विवृत करता है, खोलता है।

[जज्ञानम्=स ईक्षत लोकान् नु सृजा इति (ऐत० उप० अध्या० १, खं०

२, सन्दर्भ १)। तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेयेति (छा० उप० अध्या० ६, प्रपा० ६, खं० २, सन्दर्भ ३)। वेनः=वेनतेः कान्तिकर्मणः (निरु० १०।४।३८)। सोऽकामयत (बृ०उप०अ० १, ब्रा० २,सन्दर्भ ४,६,७)। बुध्या=बुध्नमन्तरिक्षम् (निरु० १०।४।४३, ४४), तद्भवाः। जज्ञानम्=जन् तथा ज्ञा (म० दयानन्द)= उत्पादक तथा ज्ञाता।]

२६४. हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ऽ आसीत् ।
स दा॑धार पृथि॒वीं द्यामु॒तेमां कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥
१३।४॥

(हिरण्यगर्भः) सूर्यादि तेजोमय पदार्थों का आधार, (जातः) सर्वप्रसिद्ध परमेश्वर (अग्रे) जगत् के रचने से पहले (समवर्त्तत) विद्यमान था। (एकः) सहाय की अपेक्षा से रहित वह (भूतस्य) भूतभौतिक जगत् का (पतिः) पालक तथा स्वामी (आसीत्) है। (सः) वह (पृथिवीम्) पृथिवी को, (द्याम्) द्युलोक को, (उत) और (इमाम) इस अन्तरिक्ष का (दाधार) धारण कर रहा है, (कस्मै) उस सुखस्वरूप प्रजापालक, (देवाय) प्रकाशमान तथा सुखप्रदाता के लिय (हविषा) आत्मसमपणरूपी हवि द्वारा (विधम) हम सेवा प्रदान करें।

[पृथिवीम्=पृथिवी। तथा अन्तरिक्ष (निघं० १।३)। कस्मै=कम् सुखनाम (निघं० ३।६); तथा—कः=प्रजापतिः—"प्रजापतिरब्रवीदथ कोऽहमिति, यदेवैतदवोच इत्यब्रवीत् ततो वै "को" नाम प्रजापतिरभवत् को वै नाम प्रजापतिः" (ऐत० ब्रा० ३।२१)। आसीत्=छन्दसि लुङ् लङ् लिटः (अष्टा० ३।४।६)।]

२६५. चि॒त्रं दे॒वाना॒मुद॑गा॒दनी॑कं॒ चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्या॒ग्नेः ।
आप्रा॒ द्यावा॑पृथि॒वीऽअ॒न्तरि॑क्ष॒ꣳ सूर्य॑ऽआ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च ॥
१३।४६॥

(देवानाम्) दिव्य ज्योतियों का, (चित्रम्) आश्चर्यकारी (अनीकम्) जीवनप्रद, परमेश्वर (उद्गात्) परमयोगी के हृदयाकाश में सूर्यवत् उदय होता है। परमेश्वर (मित्रस्य) सर्वभूतमैत्रीसम्पन्न की, (वरुणस्य) पापनिवारक श्रेष्ठ जन को, (अग्नेः) योगाग्निसम्पन्न योगी की (चक्षु) मानो आंख है, इन्हें जीवनमार्ग दर्शाता है। परमेश्वर (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक में, तथा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (आ) पूर्णतया

(अप्राः) परिपूर्ण हो रहा है। (सूर्यः) सूर्यसदृश प्रकाशमय, सूर्यों का सूर्य परमेश्वर (जगतः) जङ्गम प्राणी जगत् की, (च) और (तस्थुषः) जड़ जगत् को (आत्मा) आत्मा है।

[जङ्गम और जड़ जगत् निरात्मक नहीं, है, अपितु परमेश्वर इसी की आत्मा है, जोकि इसे अनुप्राणित तथा सक्रिय कर रहा है। **अनीकम्=अनिति जीवयतीति** (उणा० ४।१८; म० दया०)। **अग्नेः=न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य "योगाग्निमयं" शरीरम्** (श्वेता० उप० २।१२) में योग को अग्नि कहा है।]

२६६. आयुर्मे पाहि प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ ॥१४।१७॥

हे परमेश्वर ! (मे) मेरी (आयुः) आयु की (पाहि) रक्षा कीजिये, अर्थात् मेरी पूर्ण १०० वर्षों की आयु हो। (मे) मेरे (प्राणम्) प्राण की (पाहि) रक्षा कीजिये। (मे) मेरे (अपानम्) अपान की (पाहि) रक्षा कीजिये। (मे) मेरे (व्यानम्) व्यान की रक्षा कीजिये। (मे) मेरी (चक्षुः) दृष्टिशक्ति की (पाहि) रक्षा कीजिये। (मे) मेरी (श्रोत्रम्) श्रवणशक्ति की (पाहि) रक्षा कीजिये, (मे) मेरी (वाचम्) वाणी को (पिन्व) सचाई और माधुर्य से सिञ्चित कीजिये। (मे) मेरे (मनः) मन को (जिन्व) तृप्त कीजिये। (मे) मेरी (आत्मानम्) आत्मा की (पाहि) रक्षा कीजिये। (मे) मुझे (ज्योतिः) निज प्रकाश (यच्छ) प्रदान कीजिये।

[प्राणः=श्वास-प्रश्वास। अपान=अधोवायु। व्यान.=सर्वशरीरगत प्राण। चक्षुः=दृष्टिशक्ति। पिन्व=पिवि सेचने। जिन्व=जिवि प्रीणनार्थः, अर्थात् तृप्ति सन्तोष।]

२६७. उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥२०।२१॥

(वयम्) हम उपासक, (तमसः परि) अन्धकार से वर्जित, (देवत्रा) द्योतमान नक्षत्रादि में (देवम्) अति द्योतमान, (उत्तरम्) इन से अधिक श्रेष्ठ (सूर्यम्) सूर्य को (पश्यन्तः) देखते हुए, (स्वः) सुखस्वरूप (उत्तमम्)

सर्वोत्तम (ज्योतिः) ज्योतिर्मय परमेश्वर को, (उद्) श्रेष्ठ बनकर, (अगन्म) प्राप्त होते हैं।

[सौरमण्डल में सूर्य, सौरमण्डल का नेता, शक्ति तथा प्रकाश का दाता होने से, तथा नक्षत्र तारागणों से भी अधिक द्योतमान होने से "उत्तर" है, इन सब से श्रेष्ठ है। परमेश्वर इस सूर्य को भी प्रकाश और शक्ति प्रदान कर रहा है, इसलिये परमेश्वर "उत्तम" है, प्रकाश-प्रदान में सर्वोत्तम है। और परमेश्वर को प्राप्त किया जा सकता है, अपने आप को "उद्" उत्कृष्ट बना कर। प्रत्येक सौरमण्डल में सूर्य को शक्ति प्रदानकर, परमेश्वर इस केन्द्रशक्ति द्वारा प्रत्येक सौरमण्डल का नियन्त्रण कर रहा है। सूर्य पर विचार करते हुए उस के अधिष्ठाता परमेश्वर का अवबोध होता है। इसीलिये मन्त्र कहता है कि "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म (४०।१७)।]

२६८. एधो॑ऽस्येधिषी॒महि॑ स॒मिद॑सि॒ तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि।
स॒माव॑वर्ति पृथि॒वी स॒मु॒षाः सम॒ु सूर्यः॑। सम॒ु विश्व॑मि॒दं जग॑त्।
वै॒श्वा॒न॒रज्यो॑तिर्भूयासं वि॒भून् का॒मा॒न्व्य॒श्नवै॒ भूः स्वाहा॑॥
२०।२३॥

हे जगदीश्वर! आप (एधः) बढ़ानेहारे (असि) हैं, (एधिषीमहि) आप को कृपा से हम बढ़ते रहें। (समित्) अग्नि के प्रकाशक इन्धन के सदृश मनुष्यों की आत्माओं को प्रकाशित करनेहारे (असि) आप हैं। (तेजः) आप तेजःस्वरूप हैं, (मयि) मुझ में अपना तेज (धेहि) स्थापित कीजिये। हे जगदीश्वर! आप की शक्ति से (पृथिवी) पृथिवी (समाववर्ति) सम्यक् प्रकार से निज केन्द्र तथा सूर्य का चक्कर काट रही है। (उषाः) उषा (सम्) सम्यक् प्रकार से (आववर्ति) आती और जाती है। (सूर्यः) सूर्य (सम्) सम्यक् प्रकार से (आववर्ति) उदयास्त होता है, तथा (इदम्) यह (विश्वम्) समग्र (जगत्) जगत् (सम् उ आववर्ति) सम्यक् प्रकार से गतिमान् हो रहा है। (वैश्वानरज्योतिः) आप विश्व के नायक और ज्योतिःस्वरूप हैं, (वैश्वानरज्योतिः भूयासम्) मैं आप की कृपा से सब नर-नारियों में ज्योतिरूप से चमकूँ, (विभून्) व्यापक (कामान्) कामनाओं को (व्यश्नवै) प्राप्त करूं, (भूः) समग्र पृथिवी के लिये (स्वाहा) मैं सब कुछ न्योछावर करूँ।

[एधः=एध् वृद्धौ। समित्=सम्+इन्ध दीप्तौ। विभून् कामान्="भूः स्वाहा" द्वारा कथित तथा तत्सदृश कामनाएँ। वेदों में स्वाहा के योग में चतुर्थी

विभक्ति आवश्यक नहीं । यथा—एकोनविंशतिः स्वाहा । विंशतिः स्वाहा (अथर्व० १९।२३।१६,१७) ।]

२६९. अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम् ॥२०।२४॥

(अग्ने) हे सर्वाग्रणी, (व्रतपते) हे व्रतों के रक्षक ! (त्वयि) आप में (समिधम्) समिधारूप में मैं अपने आप को (अभि आ दधामि) साक्षात् तथा समग्रतया स्थापित करता हूँ, और (दीक्षितः) दीक्षा ग्रहण किया हुआ (अहम्) मैं (त्वा) आप को (इन्धे) हृदय में प्रदीप्त करता हूँ, (च) तथा एतन्निमित्त (व्रतम्) व्रत तथा (श्रद्धाम्) श्रद्धा को (उपैमि) प्राप्त होता हूं।

२७०. बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् ।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥२०।३०॥

(मरुतः) हे मनुष्यो ! (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्त परमेश्वर के लिये (वृत्रहन्तमम्) पापातिघाती (बृहत्) महा सामगान (गायत) गाओ, (येन) जिस महासामगान द्वारा, (ऋतावृधः) सत्य के वर्धक उपासक, (ज्योतिः देवम्) दिव्य ज्योतिरूप परमेश्वर को (अजनयन्) प्रकट करते हैं, साक्षात् करते हैं, जो ज्योति कि (देवाय) दिव्यगुणोंवाले उपासक के लिये (जागृवि) सदा जागरूक है।

२७१. यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोकाऽअधि श्रिताः ।
यऽ ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥
२०।३२॥

(यः) जो परमेश्वर (भूतानाम्) भूत-भौतिक जगत् का (अधिपतिः) अधिष्ठाता, स्वामी है, (यस्मिन्) और जिस में (लोकाः) लोक-लोकान्तर (अधिश्रिताः) अधिश्रित अर्थात् आश्रित हैं, तथा (यः) जो सब का (ईशे) अधीश्वर है. (महतः) बड़े आकाशादि से (महान्) बड़ा हैं, (तेन) इस कारण हे परमेश्वर! (त्वाम्) आप को (गृह्णामि) मैं ग्रहण करता हूँ।

[जो उपासक अनन्त ब्रह्म में निष्ठावान्, और ब्रह्म से भिन्न किसी

को उपास्य नही जानता, वही इस जगत् में विद्वान् माना जाना चाहिये (म० दयानन्द, भावार्थ)।]

२७२. प्राणपा मेऽ अपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे।
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः ॥२०।३४॥

हे जगदीश्वर! आप (मेरे) (प्राणपाः अपानपाः च) प्राण के रक्षक और अपान के रक्षक हैं, अर्थात् श्वास-प्रश्वास के रक्षक हैं, (मे) मेरी (चक्षुष्पाः श्रोत्रपाः च) दृष्टिशक्ति के रक्षक हैं, और श्रवणशक्ति के रक्षक हैं (मे) मेरी (वाचः) वाणी के (विश्वभेषजः) महौषध हैं, (मनसः) और मन के (विलायकः) विलीन करनेवाले हैं।

[वाचः = अनावश्यक बोलना, कठोर वचन, क्रोधवचन, असत्यभाषण, निन्दा, नास्तिकता के कथन—इत्यादि वाणी के रोग हैं। ईश्वरोपासक इन रोगों से बच सकता है। परमेश्वर-प्रणिधान और परमेश्वर के ध्यान द्वारा मन परमेश्वर में विलीन होता है, और समाधिलाभ करता है।]

२७३. हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुप ह्वये।
स चेत्ता देवता पदम् ॥२२।१०॥

(हिरण्यपाणिम्) सूर्य चन्द्र नक्षत्रादि तेजोमय पदार्थ जिस के हाथ को खेल हैं, अथवा ये तेजस्वी पदार्थ जिसकी मानो स्तुतिया[1] कर रहे हैं, गुण वर्णन कर रहे हैं, (सवितारम्) जो समस्त ऐश्वर्य प्राप्त कराता, तथा सर्वोत्पादक और सर्वप्रेरक है, उसे (ऊतये) रक्षा के लिये (उपह्वये) ध्यानयोग द्वारा मैं अपने समीप अर्थात् हृदय में बुलाता हूं। (सः) वह जगदीश्वर (चेत्ता) सर्वज्ञ तथा यथार्थवेत्ता है, (देवता पदम्) वह देवता पाने योग्य है। [पाणिम् = पणस्तुतौ।

२७४. देवस्य चेततो महीं प्र सवितुर्हवामहे।
सुमतिं सत्यराधसम् ॥२२।११॥

---

१. "यस्य विश्व उपासते प्रशिषम्" (यजु० २५।१३) अर्थात् समग्र जगत् जिसके प्रशासन की उपासना कर रहा है। तथा "तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते" (अथर्व० १३।३/४।२७) अर्थात् ये समग्र गतिशील नक्षत्र-तारा आदि उस के प्रशासन की उपासना कर रहे हैं।

(देवस्य) स्तुति करने योग्य, (चेततः) चेतनस्वरूप, (सवितुः) जगदुत्पादक परमेश्वर की (महीम्)व्यापिका तथा सत्कारयोग्या (सुमतिम्) शुभमति को (प्र हवामहे) हम ध्यान योग द्वारा प्रकृष्टतया बुलाते हैं, ग्रहण करते हैं, जो सुमति कि (सत्यराधसम्) सत्य की साधिका है, सत्यमार्ग दर्शाती है।

[देवस्य=दिव् स्तुतौ। महीम्=बड़ी अर्थात् व्यापिका। जैसे परमेश्वर की सुमति सब का उपकार और सुख चाहती है, ऐसी सुमति का हम ग्रहण करते हैं। सर्वोपकार चाहनेवाली मति सुमति है, और स्वार्थ चाहनेवाली मति दुमति है।]

२७५. देवस्य सवितुर्मतिमासवं विश्वदेव्यम्।
धिया भगं मनामहे ॥२२।१४॥

(देवस्य) सबके दाता, (सवितुः) सकल ऐश्वर्यों के स्वामी, परमेश्र की (आसवम्) प्रेरणाप्रद आसवरूप, अर्थात् मस्ताना बना देनेवाली (मतिम्) सुमति की (मनामहे) हम याचना करते हैं, (धिया) तथा सत्कर्मों द्वारा (विश्वदेव्यम्) सब दिव्यगुणी सज्जनों के हितकारी (भगम्) ऐश्वर्य की मांग करते हैं।

[जैसे परमेश्वर सब का दाता है, वैसे हम भी सब के दाता बनें। इस निमित्त हम परमेश्वरीय सुमति चाहते हैं, जो कि हमें इस उद्देश्य में मस्ताना-प्रेरणा दे। ताकि जो ऐश्वर्य हम परमेश्वर से प्राप्त करें, उस का दान सत्पात्रों में करते रहें, और स्वार्थपरायण हम न हो जांये। आसवम्= यथा--द्राक्षासव, कुमार्यासव आदि। ये आसव शक्तिप्रद होते हैं, और ओषधियों के सार होते हैं। सुरा अर्थात् शराबरूप नहीं होते। महापुरुषों में परोपकार की मस्ती होती है, जिसे कि मन्त्र में "आसव" कहा है। वेद में सुरापान का निषेध है।]

२७६. मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा व्यानट्। यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१२।१०२॥

(यः) जो (सत्याधर्मा) सत्यधर्म का स्वामी जगदीश्वर (पृथिव्याः) पृथिवी का (जनिता) उत्पादक है, (यः वा) और जो (दिवम्) द्युलोक

में (व्यानट्) व्याप्त है, वह (मा) मेरी (मा हिंसीत्) न हिंसा करे। (च) तथा (यः प्रथमः) जिस अनादि परमेश्वर ने (चन्द्राः) आह्लादकारी तथा चमकीले (अपः) जलों को (जजान) पैदा किया है, उस (कस्मै) सुखस्वरूप जगदीश्वर के लिये (हविषा) समर्पणीय भक्तियोग द्वारा (विधेम) हम सेवा अर्पित करें।

[सत्यधर्मा=वैदिक-सत्यधर्म का स्वामी। हिंसीत्=परमेश्वरीय छाया अर्थात् आश्रय अमृत अर्थात् मोक्षरूप है, और उसकी छाया को प्राप्त न होना मृत्यु और हिंसारूप है। यथा—"यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः" (यजु० २५।१३)।]

२७७. आ तें वत्सो मनौ यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।
अग्ने त्वां कामया गिरा ॥१२।११५॥

(अग्ने) हे ज्ञानमय सर्वाग्रणी ! (ते) आप का (वत्सः) यह उपासक-पुत्र (परमात्) दूर-दूर गये हुए (सधस्थात) स्थान से (चित्) भी (मनः) मन को हटाकर (आयमत्) आप में नियन्त्रित करता है। हे सर्वाग्रणी ! (त्वाङ्कामया)[1] आप की प्राप्ति की कामना के हेतु (गिरा) स्तुतिवाणी द्वारा मैं आप की स्तुति करता हूं।

२७८. न तं विदाथ यऽ इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृपऽ उक्थशासश्चरन्ति ॥१७।३१॥

जैसे ब्रह्म के न जाननेवाले (नीहारेण) कुहर के समान अज्ञानरूप अन्धकार से (प्रावृताः) अच्छे प्रकार ढके हुए, (जल्प्या) व्यर्थ के वादानुवाद से सम्बद्ध, (असुतृपः) प्राणमात्रपोषक, (उक्थशासः) और योगाभ्यास को छोड़ केवल मन्त्रसूक्तों के उच्चारणमात्र करते हुए (चरन्ति) विचरते हैं, वैसे हे मनुष्यो ! तुम भी (तम्) उस परमेश्वर को (न) नहीं (विदाथ) जानते, (यः) जो परमेश्वर कि (इमा) इन भुवनों को (जजान) उत्पन्न करता है, और जो ब्रह्म (युष्माकम्) तुम सब के (अन्तरम्) अन्दर परन्तु (अन्यत्) तुम सबसे भिन्न (बभूव) होता है।

---

१. अथवा—हे सर्वाग्रणी ! स्तुतिवाणी द्वारा मैं आप की प्राप्ति की कामना करता हूँ। कामया=कामये।

२७९. इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिम् ॥१७।६१॥

(समुद्रव्यचसम्) अन्तरिक्ष की व्याप्ति के समान व्याप्तिवाले, (रथीनाम्) शरीर-रथों के स्वामी जीवात्माओं के (रथीतमम्) शरीररथों के प्रेरक, (वाजानाम्) समग्रबलों, अन्नों और विज्ञानों के (पतिम्) स्वामी, (सत्पतिम्) सत्पुरुषों के सच्चे स्वामी या पालक, और सत् अर्थात् विनाश-रहित कारण अर्थात् प्रकृति, तथा जीवों के स्वामी और रक्षक, (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर की, (विश्वाः गिरः) सभी वेदवाणियां (अवीवृधन्) विस्तार से स्तुतियां करती हैं।

[समुद्रः=अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३) । गिरः=गिरा गीत्या स्तुत्या (निरु० १०।१।६) । रथीनाम्="आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु" (कठोप० १।५।३) । वाजः=बलनाम (निघं० २।६); अन्ननाम (निघं० २।७); ज्ञाननाम (वज गतौ; गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च) ।]

२८०. इन्द्रो विश्वस्य राजति । शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥
३६।८॥

(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वर (विश्वस्य) समग्र जगत् का (राजति) राजा है। वह (नः) हमारे लिये (शम्) सुखदायक (अस्तु) हो। (द्विपदे) समग्र दोपायों अर्थात् मनुष्यों, और (चतुष्पदे) चौपायों के लिये (शम्) सुखदायक हो।

२८१. नमस्तेऽ अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे ॥३६।२१॥

हे परमेश्वर ! (विद्युते) विद्युत् के समान प्रकाशमान (ते) आप के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो। (स्तनयित्नवे) गर्जते मेघ के समान सुखों की वर्षा करनेवाले (ते) आप के लिये (नमः) नमस्कार हो। (भगवन्) हे भगवन् ! (ते) आप के लिये (नमः) सदा नमस्कार (अस्तु) हो, (यतः) क्योंकि आप हमारे लिये (स्वः) सुख (समीहसे) चाहते हैं, और तदनुसार चेष्टा करते हैं।

२८२. उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिश्चन्द्रमास्ते महिमा। यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते पृथिव्यामग्नौ महिमा सम्बभूव यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः स्वाहा॥
२३।४॥

हे जगदीश्वर! (उपयामगृहीतः असि) आप निज स्वीकृति द्वारा, तथा नियमों उपनियमों के पालन द्वारा गृहीत होते हैं, प्रत्यक्ष होते हैं। (जुष्टम्) सेवित तथा प्रसन्न किये गए (त्वा) आप को (प्रजापतये) आप प्रजापालक की प्रसन्नता के लिये (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ। (एषः) यह हृदय (ते) आप का (योनिः) घर है। (चन्द्रमाः) इस घर में रहनेवाला चित्त या मन (ते) आप की (महिमा) महिमारूप है। हे जगदीश्वर! (रात्रौ) रात्रि में (संवत्सरे) चान्द्र-वर्ष में (ते) आप की (यः) जो (महिमा) महिमा (संवभूव) प्रकटित है, (पृथिव्याम्) पृथिवी में और (अग्नौ) अग्नि में (ते) आप की (यः) जो (महिमा) महिमा (संबभूव) प्रकटित है, (नक्षत्रेषु) नक्षत्रों में और (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में (ते) आप की (यः) जो (महिमा) महिमा (संवभूव) प्रकटित है, (ते) आप की (तस्मै) उस (महिम्ने) महिमा के लिये, (प्रजापतये) तथा आप प्रजापालक की प्रसन्नता के लिये, (देवेभ्यः) और अग्नि वायु सोम आदि दिव्य पदार्थों की शुद्धि के लिये (स्वाहा) अग्निहोत्र आदि में मैं आहुतियां देता हूँ।

[**उपयाम=उपयमः स्वीकारे**। यथा—'**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्**" (कठोप० १।२।२२)। **चन्द्रमाः**="**चन्द्रमा मनसो जातः**" (यजु० ३१।१२)। **रात्रौ संवत्सरे**=संवत्सर अर्थात् चान्द्रवर्ष का सम्बन्ध रात्री के साथ है। चान्द्रवर्ष का आधार चान्द्र तिथियों का अपचय और उपचय है, जिन का कि परिज्ञान रात्री में होता है। इसो लिय रात्री को संवत्सर की पत्नी, तथा संवत्सर की=प्रतिमा निर्मात्री कहा है। यथा—"**संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली**"; तथा "**संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे**" (अथर्व० ३।१०।२-३)। महाप्रलयकाल के पश्चात्, सृष्टि-उत्पत्ति के प्रथम क्षण में अर्थात् महारात्रीकाल की समाप्ति पर जो प्रथम चमक होती है। इस प्रथम चमक से सृष्टि का आरम्भ तथा वर्षगणना प्रारम्भ होती है। इस प्रथम-चमक को अथर्ववेद में कहा है कि—"**इयमेव**

सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा" (३।१०।४)। पृथिवी और अग्नि तथा नक्षत्र और चन्द्रमा का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट है।]

२८३. न तस्य प्रतिमाऽ अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भऽ इत्येष मा मा हिँसीदित्येषा यस्मान्न जातऽ इत्येषः ॥३२।३॥

(तस्य) उस परमेश्वर की (प्रतिमा) प्रतिकृति मूर्त्ति वा आकृति (न) नहीं (अस्ति) है, (यस्य) जिसका कि (महत् यशः) महायश (नाम) प्रसिद्ध है। (एषः) यह परमेश्वर (हिरण्यगर्भः इति) हिरण्यगर्भ है, अर्थात् ज्योतिर्मय सूर्य बिजुली आदि पदार्थों का आधार है। परमेश्वर (मा) मुझे (हिंसीत् मा) अपनी छाया अर्थात् आश्रय से पृथक् न करे, (इति एषा) यह मेरी प्रार्थना है। (यस्मात्) जिस कारण (एषः) यह परमेश्वर (न जातः) उत्पन्न नहीं होता, इसलिये इस अनादि परमेश्वर से ही मेरी प्रार्थना है।

[हिंसीत् ="यस्य छाया अमृतं यस्य मृत्युः" (यजु० २५।१३), अर्थात् जिस परमेश्वर की छाया अर्थात् आश्रय अमृत अर्थात् जन्म-मरण की शृङ्खला से बचानेवाला है, और जिसकी छाया अर्थात् जन्म-मरण अर्थात् आश्रय का न होना मृत्यु अर्थात् जन्म-मरण की शृङ्खला का कारण है। अथवा—"मा मा हिंसीत्" अर्थात् परमेश्वर मुझे अपने से विमुख, अर्थात् पराङ्मुख न होने दे, ऐसी प्रार्थना है। हिंसीत्=हन् गतौ, पराग् गमन, पराङ्-मुख होना।]

२८४. वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतँ स्मर ॥४०।१५॥

हे मनुष्य! (वायुः) तेरी प्राणवायु तो (अमृतम्) सृष्टि की स्थिति पर्यन्त रहनेवाली, (अनिलम्) प्राणदायक अन्तरिक्षस्थ वायु में लीन हो जायगी। (अथ) तथा (इदम्) यह (शरीरम्) शरीर (भस्मान्तम्) भस्म में समाप्त हो जायेगा। इसलिये (क्रतो) प्रज्ञावाले तथा कर्मों को करने-वाले हे जीव! तू (ओ३म्) ओ३म् पदवाच्य रक्षक परमेश्वर का (स्मर) सदा स्मरण किया कर, (क्लिबे) सामर्थ्यप्राप्ति के लिये (स्मर) सदा परमेश्वर का स्मरण किया कर। (कृतम्) तथा किये शुभाशुभ कर्मों का (स्मर) सदा स्मरण किया कर।

२८५. अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाजऽइत्किलासथ यत् सनवथ पूरुषम् ॥३५।४॥

(अश्वत्थे) कल ठहरेगा या नहीं, ऐसे संसार में (वः) तुम्हारी (यत् निषदनम्) जो स्थिति है, और (पर्णे) पत्ते के तुल्य चञ्चल शरीर में (वः) तुम्हारा (वसतिः) निवास (कृता) किया गया है,तो भी (गोभाजः इत्) पार्थिव भोगों और ऐन्द्रिय विषयों के ही भोगने वाले, उन का ही भजन करनेवाले (किल) निश्चय से (असथ) तुम हो, इसलिए (पूरुषम्) परिपूर्ण परमेश्वर की (सनवथ) सम्यक् भक्ति या भजन किया करो।

[अश्वत्थे = अ + श्वः + स्थे। गौः = पृथिवी (निघ० १।१), और इन्द्रियां (उणा० २।६८, म० दयानन्द)। सनवथ = सन् संभक्तौ। "मनुष्यों को चाहिये कि अनित्य संसार में, अनित्य शरीरों और अनित्य पदार्थों को प्राप्त होके, क्षणभंगुर जीवन में धर्माचरण के साथ नित्य परमेश्वर की उपासना कर, आत्मा और परमात्मा के संयोग से उत्पन्न नित्य सुख को प्राप्त हों" (भावार्थ, म० दयानन्द)।]

—:o:—

सृष्ट्युत्पत्ति [२]

२८६. किꣳस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥ १७।१८॥

इस जगत् का (अधिष्ठानम्) आधार (किंस्वित्) क्या (आसीत्) है, (आरम्भणम्) इस कार्यजगत् की रचना का आरम्भण-कारण (कतमत् स्वित्) अर्थात् नाना उपादान कारणों में से प्रारम्भिक उपादान कारण कौन सा है, (कथा) और वह किस प्रकार का (आसीत्) है, (यतः) जिस उपादान कारण से कि (विश्वकर्मा) विश्व के कर्त्ता और (विश्वचक्षाः) विश्व के द्रष्टा जगदीश्वर ने, (भूमिम्) पृथिवी को (जनयन्) पैदा करते हुए, (महिना) अपनी महिमा द्वारा (द्याम्) द्युलोक को (वि और्णोत्) आच्छादन या आवरण से विगत अर्थात् रहित किया है।

[आसीत् = छन्दसि लुङ् लङ् लिटः (अष्टा० ३।४।६), द्वारा वेद में लुङ्

लङ् लिट् वर्तमान काल में भी प्रयुक्त होते हैं। इसलिये महर्षि दयानन्द ने आसीत् का अर्थ "है" किया है। अगले मन्त्र (२८७) में यह दर्शाया गया है कि जो जगदीश्वर सब भुवनों का अधिष्ठाता तथा आधार है, उस का आधार कोई अन्य पदार्थ नहीं हो सकता। उस की सत्ता स्वाश्रित है, पराश्रित नहीं। आरम्भण—अर्थात् उपादान कारण नाना[1] होते हैं। जैसे कि कुर्सी का उपादान लकड़ी, लकड़ी का उपादान कारण है वृक्ष, वृक्ष का उपादान कारण है बीज इत्यादि। इसी प्रकार द्युलोक और भूलोक के भी क्रमशः कई उपादान कारण हैं। इन में से सर्वप्रथम उपादान कारण है—सत्त्वरजस्तमोमयी प्रकृति। इसी से उत्तरोत्तर कार्यरूप नाना उपादानों द्वारा द्युलोक सूर्य तथा तदनन्तर भूलोक उत्पन्न हुआ। सांख्य शास्त्र में मध्यवर्ती उपादान कारण महतत्त्व, अहंकार, तथा पञ्चतन्त्रमात्राएं कहे हैं। पञ्चतन्त्रमात्राओं से परमाणु पैदा हुए, जिन्हें कि (मन्त्रक्रमाङ्क २८८) में "पतत्रैः" शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया है। इन पतत्रों से परमेश्वर ने द्युलोक और भूलोक को पैदा किया। मन्त्र में भूमि की उत्पत्ति से पूर्व द्युलोक का अनावरण अर्थात् अभिव्यक्ति दर्शाई है। द्युलोकस्थ सूर्य से भूमि की उत्पत्ति होती है। **"वि और्णोत्"** का अर्थ है— **"आवरण से रहित किया"**। इस के द्वारा सत्कार्यवाद सूचित किया है। कार्य वस्तुतः निज उपादान कारण में शक्तिरूप में विलीन रहता है, और उचित सामग्री के अनुकूल होने पर अनभिव्यक्त अवस्था से अभिव्यक्त अवस्था में प्रकट होता हैं। "कथासीत्" द्वारा सम्भवतः प्रकृति की कार्योत्पादनाभिमुख अवस्था सूचित की है, जिस अवस्था से क्रमशः द्युलोक और भूमि उत्पन्न हुए हैं।]

२८७. किंस्विद् वनं कऽउ स वृक्षऽआस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥१७।२०॥

(मनीषिणः) हे मनस्वियो! (मनसा) मननपूर्वक (पृच्छत) पूछा

---

(१) मन्त्र में **"कतमत्"** शब्द की व्याख्या में महर्षि ने लिखा है कि **"बहुत उपादानों में क्या"**। इस प्रकार महर्षि ने कार्य जगत् की रचना में नाना उपादान कारण कहे हैं। प्रथम उपादान कारण तो "प्रकृति" है। महदादि विकृतिरूप भी हैं और प्रकृतिरूप भी। इसी प्रकार विकृति-प्रकृतिरूप उत्तरोत्तर के कार्यों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये।

करो कि (किंस्वित्) कौन सा (वनम्) वन, तथा (कः उ) कौन सा (सः) वह (वृक्षः) वृक्ष (आस) था, (यतः) जिससे परमेश्वर की शक्तियों ने (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (निः ततक्षुः) घड़ निकाला है, तथा (पृच्छत इत् उ) यह भी पूछो कि (तद्) वह कौन है (यद्) जो कि (भुवनानि) भुवनों को (धारयन्) धारित करता हुआ (अध्यतिष्ठत्) इन भुवनों का अधिष्ठाता है।

[मन्त्र में वन, वृक्ष, और अधिष्ठान के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये हैं। अधिष्ठान के सम्बन्ध में तो मन्त्र ने स्वयं उत्तर दे दिया है कि जो परमेश्वर सब भुवनों को धारण कर रहा है, उस का अधिष्ठान अर्थात् आधार कोई अन्य पदार्थ नहीं हो सकता। धारणकर्त्ता परमेश्वर स्वाश्रित है, अपने से अतिरिक्त सब वस्तुओं को धारणकर्त्ता स्वयं धारण कर रहा है। जिन्हें धारण कर्त्ताधारण कर रहा है, उनमें से कोई भी पदार्थ धारणकर्त्ता का धारक,आधार या अधिष्ठान नहीं हो सकता। महर्षि दयानन्द ने "**वन**' **शब्द द्वारा कारण का,** तथा '**वृक्ष**" **शब्द द्वारा छिद्यमान अनित्य कार्यरूप का ग्रहण किया है। "वृक्ष शब्द से कार्य, और वन शब्द से कारण का ग्रहण है**" (म० दयानन्द, भावार्थ)। "वन" शब्द और "आरम्भण" शब्द (मन्त्र क्रमाङ्क २८६) समानाभिप्राय प्रतीत होते हैं। '**वृक्ष शब्द द्वारा सम्भवतः विराट् को सूचित किया है।** विराट् अर्थात विशेष दीप्यमान हैम-अण्ड (मनु०)। यथा -- "**तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्**"। इसी विराट् के अतिविरेचन से द्युलोक के नक्षत्र तथा तारागण पैदा हुए, और तदनन्तर भूमि पैदा हुई। यथा— **ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः। स जातोऽ अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥**" (यजु० ३१।५)।]

२८८. वि॒श्वत॑श्चक्षुरु॒त वि॒श्वतो॑मुखो वि॒श्वतो॑बाहुरु॒त वि॒श्वत॑स्पात्।
सं बा॒हुभ्यां॒ धम॑ति॒ सं पत॑त्रै॒र्द्यावा॒भूमी॑ ज॒नय॑न्दे॒वऽ एकः॑॥

१७ १९॥

(विश्वतः चक्षुः) सब संसार का द्रष्टा, (उत) और (विश्वतः मुखः) सब ओर की घटनाओं द्वारा मूक-उपदेश देनेवाला, (विश्वतः बाहुः) सब प्रकार से अनन्त बल और वीर्य अर्थात् पराक्रमवाला, (उत) तथा (विश्वतः पात्) सर्वत्र व्याप्तिवाला (एकः) अद्वितीय सहायरहित (देवः) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर है। (पतत्रैः) गतिशील परमाणु आदि से (द्यावाभूमी) द्युलोक और भूमि को (सं जनयन्) कार्यरूप में प्रकट

हुआ वह एक देव, (बाहूभ्याम्) निज वल और वीर्य अर्थात् पराक्रम द्वारा (सं धमति) समग्र जगत् को सम्यक रूप से गतिमान् कर रहा है।

[धमति गतिकर्मा (निघं० २।१४)। पतत्रैः="क्रियाशील परमाणु आदि से"। पत् गतौ (महर्षि दयानन्द)।]

२८९. चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेनेऽअजनन्नम्नमाने।
यदेदन्ताऽ अददृहन्त पूर्वऽआदिद् द्यावापृथिवीऽअप्रथेताम्॥
१७.२९॥

जगदीश्वर (चक्षुषः) ज्ञान-चक्षु का (पिता) पिता है, (हि) निश्चय से (मनसा धीरः) मनस्वी तथा धीमान् है। (घृतमेने) दीप्ति से कान्तिमान् और (नम्नमाने) शब्दायमान द्युलोक और पृथिवीलोक को (अजनत् परमेश्वर ने उत्पन्न किया है। (यदा) जब (इत्) ही कारणरूप विराट् के (पूर्वे) पूर्वभाग के अर्थात् पूर्व दिशावाले (अन्ताः) प्रान्तभाग (अददृहन्त) दृढ़ हुए अर्थात् घनीभूत हुए, (आत् इत) तदनन्तर ही या उन घनीभूत प्रान्तभागों से ही (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (अप्रथेताम्) प्रख्यात् हुए या फैले।

[घृतमेने=यह समस्तपद प्रतीत होता है। घृतम्=घृ दीप्तौ; मेने= मन्यते कान्तिकर्मा (निघं० २।६)। धीरः=मेधाविनाम (निघं० ३।१५)। नम्नमाने=नम् प्रह्वत्वे शब्दे च। यहां "नम् शब्दार्थक है। सूर्यादि देवों की उत्पत्ति में "बृहस्पतिरेताः [जानाः, ऋ० १०।७२।१] सं कर्मार इवाधमत्" (ऋ० १०।७२।२) में लुहार के संधमान का दृष्टान्त दिया है। संध्मान का अर्थ है—सम्यक् अग्निसंयोग तथा इस अग्निसंयोग में शब्द का होना। उत्पत्ति-काल में कारण द्रव्य अग्नि से संयुक्त होते हैं, और उग्र शब्द होता है। इस अवस्था को नम्नमाने द्वारा सूचित किया प्रतीत होता है। 'विराट्" (यजु० ३१।५), या "हैम-अण्ड" (मनु०) से जब उत्पत्ति होती है, तब सम्भव है कि इन के पूर्वदिक्स्थ भाग, प्रथम कुछ घने होकर, द्युलोक और पृथिवी-लोक के उत्पादक होते हों। जगत् में पृथिवी आदि ग्रह पश्चिम से पूर्व की ओर गति कर रहे हैं। ये गतियां सम्भव है कि विराट् या हैम-अण्ड के पूर्व भाग से उत्पत्तियों के कारण हों। अथवा "पूर्वे" का अर्थ है—पूर्वकाल में अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति काल में। यथा—"देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत" (ऋ० १०।७२।२); तथा—"देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत" (ऋ० १०।७२।३)। इन मन्त्रों में पठित "पूर्व्ये" तथा "प्रथमे" तथा मन्त्रक्रमांक २८९ में पठित

"पूर्वे" सम्भवतः एकाभिप्रायक हों। पूर्वे=पूर्वे युगे। "मेने" पद में "मन्" धातु की उपधा को एकार हुआ है। जैसे कि "मेनाः=स्त्रियः"। मेनाः मानयन्त्येनाः (निरु० ३।४।२१), तथा—सूर्यरूपी चक्षु के पालक, मन से धीर परमेश्वर ने (घृतम्) प्रकाश के पुञ्ज विराट् अर्थात् हैम-अण्ड को उत्पन्न किया, तथा उत्पत्ति की ओर (नम्नमाने) नत हुए (एने) इन द्युलोक और पृथिवीलोक को उत्पन्न किया। शेष पूर्ववत्। [घृतम्=घृ दीप्तौ।]

२९०. परो दिवा परऽ एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कᳪस्विद् गर्भं प्रथमं दध्रऽआपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे॥
१७।२९॥

(यत्) जो ब्रह्म (दिवा) द्युलोक से भी (परः) परे है, (एना) इस (पृथिव्या) पृथिवी से भी (परः) परे है, (देवैः) विषयों में क्रीड़ा करनेवालों, और (असुरैः) प्राणपरायणों से भी (परः) परे अर्थात् अज्ञातस्वरूप (अस्ति) है या (देवैः) अर्थात् लौकिक विद्याविज्ञों अर्थात् अपराविद्या के विद्वानों, तथा प्राणपोषणतत्परों से जो अज्ञातस्वरूप है, उस (कंस्वित्) किसी अद्भुतस्वरूप (गर्भम्) गर्भ को (आपः) व्यापक प्रकृति ने (प्रथमम्) पहिले (दध्रे) धारण किया, (यत्र) जिस गर्भीभूत ब्रह्म में विचरनेवाले (पूर्वे) परिपूर्ण (देवाः) दिव्यगुणी योगीजन जिसे (समपश्यन्त) सम्यक्तया अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानचक्षु द्वारा देखते हैं।

[देवेभिः=शिश्नदेवः। "मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः" (ऋ० ७।२१।५) देवाः=दिव् क्रीड़ा। असुरैः=असुरिति प्राणनाम, अस्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः असुराः (निरु० ३।२।८)। आपः= आप्लृ व्याप्तौ, व्याप्त प्रकृति। पूर्वे=पूर्व पूरणे। तथा देवाः=विद्वांसो वै देवाः। गर्भम्=ईक्षा तथा कामना सम्पन्न ब्रह्म। अभिप्राय यह कि सर्वप्रथम प्रकृति में ब्राह्मी कामना और ईक्षा का आधान, मानो गर्भाधानरूप में होता है, तदनन्तर सर्जन प्रारम्भ होता है।]

२९१. तमिद् गर्भं प्रथमं दध्रऽ आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥
१७।३०॥

(तम्) उस (इत्) ही (गर्भम्) ब्रह्मरूपी-गर्भ को (आपः) व्यापक प्रकृति ने (प्रथमम्) पहिले (दध्रे) धारण किया, (यत्र) जिस गर्भीभूत-

ब्रह्म में कि (विश्वे) सब (देवाः) दिव्यगुणी पराविद्याविज्ञ योगीजन (समगच्छन्त) संगत होते हैं। (अजस्य) अजन्मा ब्रह्म की (नाभौ अधि) बन्धनशक्ति में (एकम्) एक प्रकृतितत्त्व (अर्पितम्) आश्रित है, (यस्मिन्) जिस प्रकृतितत्त्व में कि (विश्वानि) सब) (भुवनानि) भुवन (तस्थुः) स्थित हैं।

[तस्थुः=कार्य की स्थिति अपने उपादानकारण में आश्रित होती है। नाभौ= नह बन्धने। अभिप्राय यह कि योगियों की स्थिति तो ब्रह्म में होती है, और कार्यजगत् की स्थिति अपने उपादानकारण प्रकृतितत्त्व में होती है।]

२९२. विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देवऽआदिद् गन्धर्वो अभवत् द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा॥
१७।३२॥

(विश्वकर्मा) विश्व की रचना जिस का काम है ऐसा जगदीश्वर (देवः) देव, (हि) निश्चय से (अजनिष्ट) ईक्षा और कामना सहित प्रथम प्रादुर्भूत होता है (आत्) तदनन्तर (इत्) ही (द्वितीयः) दूसरा अर्थात् प्रकृति-तत्त्व, (गन्धर्वः[1]) उग्र रश्मिसमूह को धारण करनेवाले विराट् अर्थात हैम-अण्डरूप में (अभवत्) प्रकट होता है। (तृतीयः) तीसरा प्रकट होता है जोकि (ओषधीनाम्) ओषधियों का (पिता) पालक, तथा (जनिता) उत्पादक सूर्य है, जोकि (पुरुत्रा) बहुत त्राण करता, तथा (अपां गर्भम्) जलों को ग्रहण किये मेघ को (व्यदधात्) विविध स्थानों में स्थापित करता है।

[पुरुत्रा=बहुतों का रक्षक, (महर्षि दयानन्द)।]

२९३. ततो विराडजायत विराजोऽ अधि पूरुषः।
स जातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥३१।५॥

(ततः) उस सनातन पूर्ण परमात्मा से (विराट्) विशेष प्रदीप्त-तत्त्व (अजायत) उत्पन्न होता है, (विराजः) इस विराट् का (अधि) अधिष्ठाता (पूरुषः) परिपूर्ण परमात्मा होता है। (अथ उ) तदनन्तर

---

(१) गन्धर्वः=गौः "सर्वे रश्मयो गाव उच्यन्ते" (निरु० २।२।८)+धर्वः (धृञ् धारणे)।

(जातः) उत्पन्न होकर (सः) वह विराट् (अति अरिच्यत) बहुत विभक्त होता है, (पश्चात्) और फिर परमात्मा (भूमिम्) भूमि को, और (पुरः) प्राणियों के शरीरों को उत्पन्न करता है।

[इस विराट् (वि+राज् दीप्तौ) को मनुस्मृति में इस प्रकार वर्णित किया है। यथा—"तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्" अर्थात् प्रारम्भ में सौवर्ण-अण्ड पैदा हुआ, जो कि हजारों रश्मियोंवाले सूर्य के समान प्रभावाला था।

विशेष वक्तव्यः—योग सांख्य की दृष्टि से प्रकृति से जो महत् अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्राएं पैदा होती हैं, यह अभौतिक सृष्टि है। पञ्चतन्मात्राओं से जब परमाणु और तदुत्तरवर्ती सृष्टि पैदा होती है, तो इसे भूत-भौतिक सृष्टि कहते हैं। मन्त्र २९३ में विराट् तथा मनु में जो हैम-अण्ड का वर्णन है, वह भौतिक सृष्टि का वर्णन है। इस भौतिक सृष्टि से पूर्व महत् आदि अभौतिक सृष्टि पैदा होती है।]

२९४. त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥३१।४॥

(पुरुषः) पालक तथा परिपूर्ण परमेश्वर (त्रिपाद्) तीन अंशों से (ऊर्ध्वः) संसार से पृथक् हुआ (उत् ऐत) उदय को प्राप्त रहता है, (अस्य) इस परमेश्वर का (पादः) एक अंश (इह) इस जगत् में (पुनः) बार-बार उत्पत्ति-प्रलय के चक्र से (अभवत्) प्रकट होता है। (ततः) प्रकट होने के अनन्तर (विष्वङ्) सर्वत्र प्राप्त परमेश्वर (साशनानशे) खानेवाले चेतन और न खानेवाले जड़ इन दोनों के (अभि) प्रति (वि अक्रमत्) निज विक्रम दर्शाता है, इन का नियन्त्रण करता है।

["परमेश्वर कार्यजगत् से पृथक् तीन अंश से प्रकाशित हुआ, एक अंश सामर्थ्य से सब जगत् को बार-बार उत्पन्न करता हैं, पीछे उस चराचर जगत् में व्याप्त होकर स्थित होता है" (भावार्थ, म० दयानन्द)। मन्त्र में 'पुनः' शब्द द्वारा सृष्टिचक्र की अनादिता सूचित की है।]

२९५. तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्। रेतोधा आसन् महिमानऽआसन्त्स्वधाऽअवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥३३।७४॥

सृष्टि के उत्पन्न हो जाने पर (एषाम्) इन सूर्य चन्द्र तारा आदि का (तिरश्चीनः) टेढ़ा चलनेवाला (रश्मिः) किरण-समूह (विततः) विविध दिशाओं में फैलता है।(अध स्वित्) नीचे की ओर भी (आसीत्) फैलता है, और (उपरिस्वित्) ऊपर की ओर भी (आसीत्) फैलता है। सृष्टि में (रेतोधाः) वीर्यधारी प्राणी भी (आसन्) पैदा होते हैं तथा जल को धारण करनेवाले आकाश, सूर्य, तथा समुद्र भी पैदा होते हैं। और (महीमानः) महापरिमाणवाले लोक तथा पर्वत आदि भी (आसन्) पैदा होते हैं। परमेश्वर ने (स्वधा) स्वाश्रित प्रकृति को (अवस्तात्) नीचा किया है, और (प्रयतिः) प्रयत्न को (परस्तात्) उस से श्रेष्ठ किया है।

[यह मन्त्र ऋग्वेद में भी पठित है (१०।१२९।५)। सूर्य आदि की रश्मियां तरङ्गों के सदृश चलती हैं, तथा भिन्न-भिन्न माध्यमों से गुज़रती हुई मार्ग से विचलित Refracted हो जाती हैं। इसलिये इन्हें तिरश्चीन कहा है। रेतोधा,, रेतस् =वीर्य, तथा उदक। रेतः उदकनाम (निघं० १।१२)। स्वधा, प्रयतिः=परमेश्वर के अपने आश्रय में रहती हुई जो कार्यजगत् के रूप में परिणत होती है, वह प्रकृति स्वधा है, स्व+धा। (धारणे)। परमेश्वर का प्रयत्न प्रकृति में परिणाम लाता है, इसलिये प्रयति श्रेष्ठ है प्रकृति से। हमारे जीवनों में भी 'स्वधा' अर्थात् प्राकृतिक शरीर और मन को नीचा, और प्रयति अर्थात् आत्मा के प्रयत्न को प्रकृति से ऊँचा कहा है। प्रयत्न आत्मा का धर्म है। यथा—"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्" (न्याय-दर्शन)। प्रकृति का नीचा होना, और प्रयति का ऊँचा होना, नैतिक जीवन या सदाचार का मूलाधार है।]

—:०:—

योग और मोक्ष [३]

२९६. युञ्जते मनऽ उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽ इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा ॥५।१४; ११।४॥

(विप्राः) मेधावी मनुष्य, (विप्रस्य) अनन्तज्ञानयुक्त, (बृहतः) सब

से महान्, (विपश्चितः) सर्वविद्याओं के जाननेवाले परमेश्वर के स्वरूप में (मनः) मनों को (युञ्जते) योगविधि द्वारा स्थिर करते हैं, और (धियः) बुद्धियों अर्थात् ज्ञानों तथा संकल्पों को (युञ्जते) योगविधि द्वारा स्थिर करते हैं। (वयुनाविद्) प्रज्ञावान् (एकः) एकमात्र परमेश्वर (इत्) ही (होत्रा) उपासकों के ध्यानयज्ञों को (वि दधे) सम्पन्न अर्थात् सफल करता है। (देवस्य) प्रकाश देनेवाले (सवितुः) सकल जगदुत्पादक, सर्वप्रेरक, तथा सकलैश्वर्ययुक्त परमेश्वर की (मही परिष्टुतिः) यह महती महिमा है, (स्वाहा) इसलिये उस के प्रति मैं अपने आप को समर्पित करता हूँ, उसके प्रति मानो मैं निजाहुति देता हूँ।

[**विप्रः मेधाविनाम** (निघं० ३।१५)। **विपश्चित् मेधाविनाम** (निघं० ३।१५)। **होत्रा यज्ञनाम** (निघं० ३।१७)। **देवस्य=देवो दानाद्वा** (निरु० ७। ४।१५)।]

२९७. युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥११।१॥

(तत्त्वाय) संसार के तत्त्वभूत परमेश्वर की प्राप्ति के लिये, (सविता) मन आदि का प्रेरक जीवात्मा, (प्रथमम्) पहिले (मनः) मन को, और पुनः (धियः) मानसिक वृत्तियों को (युञ्जानः) योगविधि द्वारा परमेश्वर के साथ जोड़ता है। और (अग्नेः) प्रकाशस्वरूप जगदग्रणी के (ज्योतिः) ज्योतिर्मय स्वरूप का (निचाय्य) शास्त्रों द्वारा निश्चय करके, उसे (पृथिव्याः अधि) पार्थिवशरीर या अन्नमय मन से (आ भरत्) प्राप्त कर लेता है।

(**तत्त्वाय=तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः** (योग १।३२) में "**एकतत्त्व**" **से परमेश्वर अभिप्रेत** है। "जो केवल एक अद्वितीय "ब्रह्मतत्त्व" है, उसी में प्रेम, और सर्वदा उसी की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना है, वही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है, अन्य कोई नहीं" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, उपासनाविषय, म० दयानन्द)।" **सविता षू प्रेरणे। पृथिव्याः=पृथिवी शरीरम्** (अथर्व० ५।९।७); तथा "**अन्नमयं हि सोम्य मनः**" (छान्दोग्य ६।५), अन्न पार्थिव पदार्थ है।]

२९८. युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥११।२॥

(देवस्य) आध्यात्मिक प्रकाश देनेवाले, (सवितुः) जगदुत्पादक सर्वप्रेरक, तथा सकलैश्वर्यवान् परमेश्वर की (सवे) प्रेरणा में, आज्ञा में वर्तमान (वयम्) हम योगी, (युक्तेन) योगयुक्त (मनसा) मन द्वारा, तथा (शक्त्या) शक्ति द्वारा (स्वर्ग्याय) सुख की प्राप्ति के लिये यत्नवान् होते हैं।

[स्वर्ग्याय="सुख की प्राप्ति के लिये," (म० दयानन्द)। मन्त्र में आध्यात्मिक सुख अभिप्रेत हैं। स्वर्ग=देवपुरी शरीर में विद्यमान, ज्योति से आवृत हिरण्ययकोश, अर्थात् हृदय। यथा—"अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः" (अथर्व० १०।२।३१)। इस हिरण्यय-कोशरूपी स्वर्ग में अनुभूयमान समाधिजन्य सुख या आनन्द ही "स्वर्ग्य" पद वाच्य है। शक्त्या=योगदर्शन में शक्ति को "वीर्य" कहा है। यथा—"श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" (१।२०)। एकासन में घण्टों समाधि लगाना सम्भव नहीं होता, जब तक कि शरीर वीर्यवान् न हो। इसीलिये कहा है कि—"यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्यो३-मित्येतत्" (कठ उपनिषद्)।]

२९९. युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥११।३॥

(सविता) प्रेरक परमेश्वर, (धिया) योगक्रिया द्वारा (स्वः) दिव्य सुख को तथा (दिवम्) दिव्य ज्ञानप्रकाश को (यतः) प्राप्त होते हुए (देवान्) दिव्य योगिजनों को, जोकि (बृहत् ज्योतिः) महाज्योति[1] को (करिष्यतः) निज जीवनों में प्रकट, या उस का प्रचार करेंगे, (युक्त्वाय) निज स्वरूप के साथ सम्बद्ध करके, (तान्) उन्हें (सविता) प्रेरक परमेश्वर (प्र सुवाति) प्रेरणाएं देता रहता है।

[सविता=षू प्रेरणे। धिया=धीः कर्मनाम (निघं० २।१), अर्थात् कर्मयोग तथा क्रियायोग द्वारा। कर्मयोग=फल की इच्छा न करते हुए कर्त्तव्यों का करना। क्रियायोग =स्वाध्याय, तप, तथा ईश्वरप्रणिधान=अपने

---

(१) इन्द्रियां यद्यपि योगज महती ज्योति के प्रकट करने में साक्षात् कारण नहीं, तथापि स्वनिग्रह के द्वारा परम्परया ये महती ज्योति के प्रकटीकरण में सहायक होती हैं।

को सर्वथा परमेश्वरार्पित कर देना (योग० २।१)। बृहत् ज्योतिः=परमेश्वर रूपी महाज्योतिः, तथा—ऋतम्भरा प्रज्ञारूपी महाज्योतिः (योग १।४८), तथा विवेकजज्ञान द्वारा प्रकट होनेवाली सर्वज्ञतारूपी महाज्योति: (योग ३।४६)। तथा प्रातिभज्ञान आदि (योग ३।३६), यथा—"ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ताः जायन्ते" अर्थात् बाह्येन्द्रियों के विना दिव्यश्रवण, दिव्यस्पर्शन, दिव्यदर्शन, दिव्य आस्वादन, दिव्यगन्ध ग्रहण आदि।]

३००. युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोकऽ एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वेऽ अमृतस्य पुत्राऽ आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥११।५॥

योगाभ्यास के चाहनेवाले हे स्त्रीपुरुषो ! (वाम्) तुम दोनों को (युजे) में योगाभ्यासी योगयुक्त करता हूँ। (पूर्व्यम्) पूर्व के योगियों द्वारा साक्षात्कृत (ब्रह्म) ब्रह्म (नमोभिः) नमस्कारों की विधि द्वारा (एतु) तुम्हें प्राप्त हो। (श्लोकः) मेरा यह कीर्त्तिसम्पन्न कथन, (सूरेः) परमेश्वर के स्तोता योगी की (पथ्या इव) योगपथ हितकारिणी वाणी के सदृश (वि एतु) तुम्हें विशेषरूप में प्राप्त हो। मेरे इस कथन को (अमृतस्य) अविनाशी परमेश्वर के (विश्वे) सब (पुत्राः) पुत्र (शृण्वन्तु) सुनें, (ये) जिनकी कि (दिव्यानि) दिव्य (धामानि) स्थानों में (आ तस्थुः) आस्था है।

[योगारूढ़ होने के लिये जहां परमेश्वरीय कृपा की आवश्यकता है, वहां साथ ही योगस्थ सच्चे गुरु की भी आवश्यकता है। ऐसे योगस्थ गुरु की प्राप्ति भी परमेश्वरीय कृपा पर ही निर्भर है। सच्चा गुरु नमस्कारों[1] की विधि सिखला कर, श्रद्धापूर्वक किये नमस्कारों द्वारा भी परमेश्वर को प्रह्वीभूत कर, उपासक का सम्बन्ध परमेश्वर के साथ करा सकता है। पथ्या=पथ्यां यजति, वाग्वै पथ्या (मैत्रा० सं० ३।७।१)। श्लोकः वाङ्नाम (निघं० १।११)। धमानि=सुषुम्णानाड़ी के चक्रस्थान। यथा—हृदयस्थान (अनाहत चक्र), भ्रूमध्य (आज्ञ चक्र), तथा सहस्रारचक्र आदि। सूरिः स्तोतृनाम (निघं० ३।१६)।]

---

(१) नमस्कार में "नमः" का अर्थ है—"प्रह्वीभूत" रहना, नम्र रहना झुके रहना। परमेश्वर और परमेश्वर की आज्ञा, और उस के नियमों को सर्वोपरि तथा शक्तिशाली मानकर तदनुसार निज जीवन को ढाल लेना।

३०१. प्राणपा मेंऽअपानपाश्चक्षुष्पाःश्रोत्रपाश्चं मे ।
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः ॥२०।३४॥

हे परमेश्वर ! आप (मे) मेरे (प्राणपाः) प्राण के रक्षक हैं। (मे) मेरे (अपानपाः) अपान के रक्षक, (चक्षुष्पाः) नेत्रों के रक्षक, (च) और (श्रोत्रपाः) श्रोत्रों के रक्षक हैं। (मे) मेरी (वाचः) वाणी के रोगों के (विश्वभेषजः) सकल औषधरूप आप हैं, और (मनसः) मन के (विलायकः) विलीन करनेवाले (असि आप) हैं।

[परमेश्वर की उपासना और उस के ध्यान से श्वास-प्रश्वासों की गति ठीक होती है, और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त हो जाने पर उपासक की रक्षा होती है। तथा वाणी का व्यर्थ वादविवाद में न पड़ना, और मन के संकल्पों-विकल्पों का लय हो जाना होता है। **प्राणापान=श्वास-प्रश्वास।** ध्यान में अन्तरायों में अर्थात् विक्षेपों या विघ्नों के उपस्थित हो जाने के कारण श्वासप्रश्वासों की गति भी अनियमित हो जाती है। परमेश्वर के श्रद्धा-पूर्वक ध्यान से यह गति नियमित हो जाती है। यथा—**"दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः विक्षेपसहभुवः"; "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः"** (योग-१।३१,३२)। एकतत्त्व से एक अर्थात् सहायरहित अद्वितीय परमेश्वर अभिप्रेत है।]

३०२. अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूरियꣳ सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि। सह नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः ॥५।६॥

(अग्ने) हे प्रकाशमय जगन्नेतः ! (व्रतपाः) अपने व्रतों के आप पालक हैं। (त्वे) आप के आश्रय में रहकर मैं (व्रतपाः) निज व्रतों का पालन करनेवाला होऊँ। (या) जो (तव) आप का (तनुः) व्यापक स्वरूप है, (इयम्) यह (सा) वह व्यापक स्वरूप (मयि) मुझ में सदा भासित होता रहे। (या उ) और जो (मम) मेरे (तनूः) शरीर इन्द्रियां तथा मन बुद्धि आदि हैं, (एषा सा) यह सब (त्वयि) आप में समर्पित हों। (नौ) हम दोनों के व्रतपालन (सह) साथ-साथ हों। (व्रतपते) हे हे व्रतों के पति ! (मे) मेरे (व्रतानि) व्रतों को (अनुमन्यताम्) अपने अनुकूल मानिये, उन्हें स्वीकृत कीजिये। (दीक्षापतिः) व्रतोपदेशों की रक्षा करनेवाला परमेश्वर (मे) मेरे लिये (दीक्षाम्) व्रतोपदेशों की

(अनुमन्यताम्) अनुमति दे। (तपस्पतिः) तपश्चर्याओं का पति परमेश्वर मेरे लिये (तपः) तपश्चर्या की (अनुमन्यताम्) अनुमति दे, निज स्वीकृति प्रदान करे।

[सह नौ=अभिप्राय यह कि परमेश्वर तो निज व्रतों अर्थात् सृष्टि-रचना, उसका धारण, तथा समय पर प्रलय करना, और न्यायानुसार कर्म-फल देना आदि व्रतों का पालन स्वभावतः कर रहा है। उस के सहयोग से मैं उपासक भी उसके द्वारा वेदोपदिष्ट निजव्रतों का पालन करनेवाला होऊँ। **मयि त्वयि** =इन दो शब्दों में एक और भावना भी अन्तर्निहित है। योग दो प्रकार का है—ध्यानयोग और क्रियायोग। ध्यानयोग में ध्याता जब समाधि में निजस्वरूप को ध्येय परमेश्वर में विलीन कर अपने स्वरूप को भूल जाता है, तब वह केवल ध्येय-परमेश्वर में तल्लीन रहता है। यह भावना—"**त्वयि मम तनूः**" में निहित है। परन्तु क्रियायोग में ध्यान मुख्य नहीं होता। इस में व्यक्ति इच्छा से प्रेरित न होकर, परमेश्वरीय-प्रेरणाओं द्वारा जीवनयापन करता है। मानो उसके देह इन्द्रियों मन और बुद्धि का संचालन परमेश्वर ही करता है। यह भावना "**तव तनूः मयि**" में अन्तर्निहित है। योगदर्शन में "**ईश्वरप्रणिधानात्**" (१।२३; तथा २।४५) दो वार पठित है। एक वार "समाधिपाद" में, और दूसरी वार "साधनपाद" में। **समाधिपाद में "ईश्वरप्रणिधानात्" का अभिप्राय है—"ध्यानयोग" द्वारा परमेश्वर में आत्म-विलयन;** तथा साधनपाद में—"**ईश्वरप्रणिधानात्**" का अभिप्राय है—आत्म-**समर्पण द्वारा परमेश्वर का प्रसादन कर समाधिलाभ करना, और जीवन में उसे ही अपना प्रेरक बनाना।**]

३०३. उपह्वरे गिरीणाᳫं सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो ऽअजायत ॥२६।१५॥

(गिरीणाम्) पर्वतों के (उपह्वरे) समीप एकान्त स्थान में, (च) और (नदीनाम् सङ्गमे) नदियों के संगम में (धिया) ध्यान द्वारा अभ्यासी (विप्रः) मेधावी अर्थात् आध्यात्मिक प्रज्ञा-सम्पन्न (अजायत) हो जाता है।

[**उपह्वरः**:Proximity; A solitary or lonely Place (आपटे)। **विप्रः मेधाविनाम** (निघं० ३।१५)। अभिप्राय यह कि एकान्त और शुद्धस्थान में योगाभ्यास द्वारा अभ्यासी अध्यात्मप्रज्ञा से सम्पन्न हो जाता है।]

३०४. त्वष्टा वीरं देवकामं जजान त्वष्टुरर्वा जायत आशुरश्वः ।
त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहोः कर्त्तारमिह यक्षि होतः ॥
२९।९॥

(त्वष्टा) कारीगर परमेश्वर, (देवकामम्) परमेश्वरदेव की कामनावाले (वीरम्) धार्मिककार्यों में वीर मनुष्य को (जजान) पैदा करता है। (त्वष्टुः) कारीगर परमेश्वर से (अर्वा) प्रेरणाप्रद, तथा (आशुः) किरणों द्वारा शीघ्र व्याप्त होनेवाला (अश्वः) सूर्य (जायते) उत्पन्न होता है। (त्वष्टा) कारीगर परमेश्वर ने (इदम्) यह (विश्वम्) समग्र (भुवनम्) संसार (जजान) पैदा किया है। (होतः) हे आत्माहुति देनेवाले उपासक! (इह) इस जगत् में तू (बहोः कर्त्तारम्) बहुविध पदार्थों के कर्त्ता कारीगर की (यक्षि) एकमात्र देवरूप से पूजा किया कर।

[अर्वा=ईरणवान् (निरु० १०।३।३०; दधिक्राः पद की व्याख्या में)। होतः=हु दाने, समर्पणे।]

३०५. य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥
२९।३४॥

(यः) जिस परमेश्वर ने (जनित्री) नानाविध पदार्थों के उत्पादक (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक को, तथा (विश्वा) समग्र (भुवनानि) भुवनों, अर्थात् चन्द्र नक्षत्रों और तारागणों को (रूपैः) रूपों द्वारा (अपिंशत्) पृथक्-पृथक् रूप में अभिव्यक्त किया है, (तम्) उस (त्वष्टारम् देवम्) कारीगर देव की, (होतः) हे उपासनायज्ञ में आहुति देनेवाले! (इषितः) इच्छावाला होकर (यजीयान्) उपासनायज्ञ करनेवाला (विद्वान्) ज्ञानी तू, (अद्य) आज से, (इह) इस संसार में, (यक्षि) एकमात्र देवरूप से पूजा किया कर।

[त्वष्टारम्=त्वष्टा त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः (निरु० ८।२।१४); त्वष्टा=त्वक्ष् तनूकरणे। इषितः=इष् इच्छायाम्। यक्षि=यज् देवपूजायाम्।]

३०६. तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥३१।९॥

(अग्रतः) प्रथम (जातम्) प्रकट हुए, (यज्ञम्) देवतारूप से पूजनीय, (तम्) उस (पुरुषम्) परिपूर्ण परमेश्वर को उपासक, (बर्हिषि) मानस ध्यानयज्ञ में (प्रौक्षन्) भक्तिरस द्वारा सींचते हैं (य) जो (साध्या) योगाभ्यास की साधनाओं से सम्पन्न, (च) और (ऋषयः) मन्त्रार्थज्ञाता ऋषिमुनि (देवाः) विद्वान् हैं, वे (तेन) उस प्रत्यक्षीभूत परमेश्वर की सहायता से (अयजन्त) ध्यानयज्ञ में उस का पूजन करते हैं।

[अभिप्राय यह है कि अप्रत्यक्ष परमेश्वर की पूजा सम्भव नहीं। ऋषिमुनि तथा योगाभ्यासी चित्त में प्रत्यक्षीकृत परमेश्वर को ही भक्तिरसों से सींचते, और इस प्रकार उस का पूजन करते हैं।]

३०७. यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मऽ इध्मः शरद्धविः ॥३१।१४॥

(देवाः) उपासक विद्वान् (यत्) जब (पुरुषेण) परिपूर्ण परमेश्वररूपी (हविषा) हवि द्वारा, (यज्ञम्) मानस ध्यानयज्ञ को (अतन्वत) रचाते हैं तब (अस्य) इस मानस ध्यानयज्ञ का (आज्यम्) घृत (वसन्तः) वसन्त ऋतु, (इध्मः) इन्धन (ग्रीष्मः) ग्रीष्मऋतु, तथा (हविः) होमयोग्य पदार्थ (शरद्) शरद्ऋतु (आसीत्) होती है।

[मन्त्र में परिपूर्ण परमेश्वर को "हवि" कहा है। यज्ञकुण्ड की अग्नि में जब हवि डाली जाती है, तब हविः आग्नेयरूप हो जाती है। इसी प्रकार चित्तरूपी कुण्ड की ध्यानरूपी अग्नि में जब परिपूर्ण परमेश्वर को मानो हविःरूप में डालते हैं, अर्थात् स्थिर चित्त होकर परमेश्वर का ध्यान करते हैं तब परमेश्वर का प्रकाश प्रकट होने लगता है। परमेश्वररूपी हवि द्वारा यह ध्यानयज्ञ सम्पन्न होता है। तदनन्तर प्रकट हुई इस परमेश्वर रूपी-अग्नि में अर्थात् प्रकाशस्वरूप परमेश्वर में, वसन्त ऋतु आदि आज्य इध्म अर्थात् समिधाओं तथा हविः की आहुतियां देने का विधान मन्त्र ने किया है। अर्थात् परमेश्वर के ध्यान में वसन्त ग्रीष्म और शरद् द्वारा सम्पाद्य वर्ष पूर्णतया समर्पित करने का विधान मन्त्र ने किया है। इस एक वर्ष में परमेश्वर के प्रत्यक्ष भान का यज्ञ सम्पूर्ण हो जाता है। वसन्त में नवपल्लवित वृक्ष पुष्प तथा अन्य प्राकृतिक शोभा आदि जगत्कर्त्ता के भान में आज्य का काम करते हैं, ग्रीष्म काल की गर्मी इन्धन का, तथा शरद्

काल में उत्पन्न हव्यपदार्थ अर्थात् खाने के पदार्थ हविः का कार्य करते हैं। इस प्रकार यह द्विविध यज्ञ सम्पूर्ण होता है। चूँकि मन्त्र में हवि का वर्णन दो बार हुआ है, इस कारण परमेश्वर का प्रत्यक्षीकरण; तथा प्रत्यक्षीकृत परमेश्वर के प्रति ध्यान में सम्पूर्ण वर्ष का समर्पण, यह द्विविध यज्ञ हैं। प्रत्येक यज्ञ की पूर्ति समर्पण में सीमित होती है। अतः यह द्विविध यज्ञ मिलकर एक पूर्णयज्ञ रूप है। समर्पण का स्वरूप "इदं न मम' में परिनिष्ठित होता है।]

३०८. वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥३२।८॥

(वेनः[1]) ब्रह्मविद्या का विद्वान् (तत्) उस ब्रह्म को (पश्यत्) ज्ञान-दृष्टि से देखता है, जोकि (गुहा) हृदय की गुफा में (सत्) विद्यमान है, (यत्र) जिस ब्रह्म में कि (विश्वम्) समग्र जगत् (एकनीडम्) एक घोंसले के सदृश (भवति) होता है। (तस्मिन् च) और उस ब्रह्म में (इदम्) यह (सर्वम्) सब जगत् (सम् एति) प्रलय में समा जाता है, (च) और सर्जन-काल में (वि एति) उस से पृथक् होता है। (विभूः) सर्वत्र व्याप्त (सः) वह परमेश्वर (प्रजासु) उत्पन्न पदार्थों में (ओतः च प्रोतः च) ओत प्रोत हो रहा है।

["प्रलय समय में सब जगत् जिस में विलीन होता, और उत्पत्ति समय में जिस से निकलता है, और जिस व्याप्त ईश्वर के विना कुछ भी वस्तु नहीं खाली है, उस को छोड़ किसी अन्य को उपास्य ईश्वर मत जानो" (भावार्थ, महर्षि दयानन्द)।]

३०९. धामन्ते विश्वं भुवनमधि श्रितमन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि।
अपामनीके समिथे यऽआभृतस्तमश्याम मधुमन्तं तऽऊर्मिम्॥ १७।९९॥

हे ब्रह्मन्! (ते) आप के (धामन्) जगद्धारक-सामर्थ्य में (विश्वम्)

---

(१) तथा परमेश्वर की प्राप्ति की उग्र कामनावाला। वेनति कान्तिकर्मा (निघं० २।६)।

समग्र (भुवनम्) जगत् (अधिश्रितम्) आश्रित है, परन्तु आप (आयुषि) हमारे जीवनकालों में (हृदि समुद्रे अन्तः) हमारे हृदयरूपी समुद्रों के भीतर आश्रित हैं। (अपाम्) रक्तरूपी जलों के (अनीके) समूहवाले हृदयों में विद्यमान (समिथ) अग्निमय अर्थात् ज्योतिर्मय आप में (यः) जो आनन्द-तरङ्ग (आभृतः) वर्तमान है, (ते) आप की (तम्) उस (मधुमन्तम्) मधुर (ऊर्मिम्) आनन्द तरङ्ग को (अश्याम) हम प्राप्त हों।

[समुद्रे हृदि = यथा—"एताऽअर्षन्ति हृद्यात्समुद्रात्" (१७।९३), अर्थात् ये स्तुतिवाणियां हृदय-समुद्र से उठती हैं, समुद्रिय लहरों के सदृश। अपाम्—आपः रक्तम्। यथा—"को अस्मिन् आपो व्यदधाद् विषूवृतः पुरुवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः। तीव्रा अरुणा लोहनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥ (अथर्व० १०।२।११)। सिन्धुसृत्याय = हृदयसृत्याय। तीव्राः = स्वाद में तीखे। अरुणाः = लाल। लोहिनीः = लोहयुक्त। ताम्रधूम्राः = ताम्बे के धूएँ जैसी, अग्नि में ताम्बा रखने पर अग्नि की ज्वाला नीली हो जाती है, ऐसे वर्ण-वाले नीले रक्त-जल अर्थात् शिराओं (Veins) के नीले रक्त जल। समिथे = समिथः अग्निः (उणा० २।११; म० दयानन्द)। अनीकम् = A Collection, group (आपटे)। अभिप्राय यह है कि जैसे जलों के समूह-रूपी मेघ में वैद्युताग्नि प्रकट होती है, वैसे रक्त के समूहरूपी हृदय में परमेश्वरीय ज्योति प्रकट होती है। ऊर्मिम = समुद्र में जैसे जलतरङ्गें उठती हैं, वैसे हृदय में आनन्द-तरङ्गें उठती हैं।]

३१० पृथिव्याऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥१७।६७॥

योग के अङ्गों के अनुष्ठान-काल में, सिद्ध अर्थात् धारणा ध्यान और समाधि में परिपूर्ण (अहम्) मैं योगी, (पृथिव्याः) पृथिवी से (अन्तरिक्षम्) आकाश पर (उद् आ अरुहम्) ऊंचे आरूढ़ हुआ हूँ। (अन्तरिक्षात्) और आकाश से (दिवम्) प्रकाशमान सूर्यलोक पर (आ अरुहम्) आरूढ़ हुआ हूं। (नाकस्य) सुख देनेहारे (दिवः) प्रकाशमान उस सूर्यलोक की (पृष्ठात्) पीठ से (स्वः) अत्यन्त सुख, और (ज्योतिः) ज्ञान के प्रकाश को (अहम्) मैं (अगाम्) प्राप्त हुआ हूं।

["जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है, तब अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती हैं। उस के पीछे कहीं से न रुकनेवाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है,

अन्यथा नहीं । मन्त्रार्थ और भावार्थ महर्षि दयानन्द द्वारा किया हुआ है ।"योगज सिद्धि के सम्बन्ध में महर्षि लिखते हैं कि—"जो योगी पुरुष तप स्वाध्याय तौर ईश्वरप्राणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारणा, ध्यान समाधिरूप संयम) के बल को प्राप्त हो, और अनेक प्राणियों के शरीरों में प्रवेश करके अनेक शिर नेत्र आदि अङ्गों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है" (भावार्थ १७।७१, महर्षि दयानन्द) । तथा "अच्छे योगी आकाश और पृथिवी को चढ़ जाते, अर्थात् लोकलोकान्तरों में इच्छापूर्वक चले जाते हैं" (मन्त्रार्थ १७।६८, म० दयानन्द)।]

३११. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥३।६०॥

(त्र्यम्बकम्[1]) तीनों कालों में दृष्टिवाले, तीनों कालों को जाननेवाले, (सुगन्धिम्) सुकर्मों की गन्धवाले, उत्तम प्रकार से दुष्कर्मो के विनाशक, (पुष्टिवर्धनम्) शारीरकि मानसिक और आध्यात्मिक पुष्टि बढ़ानेवाले परमेश्वर का (यजामहे) हम यजन करते हैं, अर्थात् उस देव की पूजा, उस का सत्संग, और उस के प्रति आत्मसमपंण करते हैं। (बन्धनात्) लता के बन्धन से (इव) पक कर जैसे (उर्वारुकम्)खर्बूजा मुक्त हो जाता है, छूट जाता है, वैसे (मृत्योः) मृत्यु से (मुक्षीय) मैं मुक्त हो जाऊँ, (अमृतात्) मोक्ष से (मा) मैं न छूटूँ । (त्र्यम्बकम्) तीनों कालों में दृष्टिवाले, (सुगन्धिम्) सुकर्मों की गन्धवाले, उत्तम प्रकार से दुष्कर्मों के विनाशक, (पतिवेदनम्) निज सर्वरक्षकस्वरूप का ज्ञान करानेवाले परमेश्वर का (यजामहे) हम यजन करते हैं, अर्थात् उस देव की पूजा, उस का सत्संग, उस के प्रति आत्मसमर्पण करते हैं । (बन्धनात्) लता के बन्धन से (उर्वारुकम्) खर्बूजा पक कर (इव) जैसे मुक्त हो जाता है, वैसे (इतः) इस शरीर से (मुक्षीय) मैं मुक्त हो जाऊं, (अमुतः) उस मोक्ष से (मा) मैं न छूटूं ।

[सुगन्धिम्—"यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद् गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति" (तै०आ० १०।९) । तथा सुगन्धिम्=सु+गन्ध अर्दने । अर्द हिंसायाम् ।]

---

(१) त्र्यम्बकम्=त्रि+अम्बकम् (Eye आपटे) ।

३१२. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

३१।१८॥

परमयोगी कहता है कि (महान्तम्) बड़े-बड़े गुणों से युक्त, (आदित्यवर्णम्) सूर्य के तुल्य प्रकाशमान, (तमसः) तमोमयी प्रकृति से (परस्तात्) पृथक् सत्तावाले, या अन्धकार वा अज्ञान से पृथक् वर्तमान (एतम् पुरुषम्) इस पूर्ण परमेश्वर को (अहम्) मैं (वेद) जानता हूँ। (तम् एव) उसी परमेश्वर को ही (विदित्वा) जान कर योगी (मृत्युम्) जन्म-मरण का (अति एति) अतिक्रमण करता है, (अन्यः) इस से भिन्न (पन्थाः) मार्ग (अयनाय) अभीष्ट मोक्ष की प्राप्ति के लिये (न विद्यते) नहीं विद्यमान है।

"मनुष्य परमात्मा को जानके ही मरणादि अथाह दुःखसागर से पृथक् हो सकते हैं, यही सुखदायी मार्ग है, इससे भिन्न मनुष्यों की मुक्ति का मार्ग नहीं है" (भावार्थ, म० दयानन्द ।]

३१३. नहि स्पशमविदन्नन्यमस्माद्वैश्वानरात्पुरऽ एतारमग्नेः ।
एमेनमवृधन्नमृताऽअमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय देवाः ॥

३३।६०॥

(देवाः) देवकोटि के लोग, (वैश्वानरात्) सब नर-नारियों के हितकारी (अस्मात्) इस (अग्नेः) अग्रनेता परमेश्वर से (अन्यम्) भिन्न किसी को, (पुर एतारम्) सहायकरूप में सामने आनेवाले (स्पशम्) दूत के समान कार्यसाधक (नहि) नहीं (अविदन्) जानते। (ईम् एनम्) इस हो (अमर्त्यम्) अमर (वैश्वानरम्) विश्व के नेता को (अमृताः) जीवन्मुक्त लोग, (क्षैत्रजित्याय) शरीरक्षेत्र, और शरीरवासी इन्द्रियों मन आदि पर विजय पाने के लिये, (आ अवृधन्) निज आत्माओं में अच्छे प्रकार बढ़ाते हैं, अर्थात् इस की दिव्यज्योति को बढ़ाते हैं।

[वैश्वानरात् =अथवा "विश्वान् नरान् नयति" (निरु० ७।६।२१), अर्थात् सब नर-नारियों को सन्मार्ग में ले जानेवाला । यथा—'अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान्" (यजु० ४०।१६) । क्षैत्रजित्याय=क्षेत्रम् शरीरम् । यथा—"यथा—योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्त्तिनम्" (कुमारसम्भव);

तथा—"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते" (गीता १३।१; तथा १३।२)। "जो देहधारी जीव विजय के लिये, उत्पत्तिनाशरहित, जगत् के स्वामी परमात्मा की उपासना करते, उस से भिन्न की उस के तुल्य उपासना नहीं करते हैं, वे बन्ध को छोड मोक्ष को प्राप्त होवें" (भावार्थ, म० दयानन्द)।]

३१४. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ ३१।१६॥

(देवाः) देवकोटि के अभ्यासी, (यज्ञेन) मानस-ज्ञानयज्ञ द्वारा, (यज्ञम्) देवत्वेन पूजनीय, संगति के योग्य, तथा आत्मसम्पर्पण योग्य ईश्वर की (अयजन्त) पूजा करते हैं; (तानि) वे ईश्वरपूजा आदि (धर्माणि) धारण करने योग्य कर्म, (प्रथमानि) अनादिरूप से मुख्य (आसन) हैं। (ते) वे अभ्यासी (ह) निश्चय से (महिमानः) महिमा को प्राप्त कर (नाकम्) दुखःरहित मुक्तिसुख को (सचन्त) प्राप्त होते हैं, (यत्र) जिस मुक्तिसुख में कि (पूर्वे) पहिले मुक्त हुए (साध्याः) योग-साधनाओं से सम्पन्न (देवाः) देवकोटि के अभ्यासी (सन्ति) वर्तमान हैं।

["मनुष्यों को चाहिये कि योगाभ्यास आदि से सदा ईश्वर की उपासना करें। इस अनादिकाल से प्रवृत्त धर्म से मुक्तिसुख को पाके, पहिले मुक्त हुए विद्वानों के समान आनन्द भोगें" (भावार्थ० म० दयानन्द)।]

३१५. स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥३२।१०॥

(सः) वह परमेश्वर (नः) हमारा (बन्धुः) भाई के तुल्य मान्य और सहायक है, (जनिता) हमारा उत्पन्न करनेहारा पिता है। (सः) वह (विधाता) सब पदार्थों और कर्मफलों का विधान करनेवाला है। वह (धामानि) जन्मों स्थानों और नामों को तथा (विश्वा) सब (भुवना) लोकलोकान्तरों को (वेद) जानता है। (अमृतम्) तथा मोक्षसुख क (आनशानाः) प्राप्त होते हुए (देवाः) देवकोटि के योगिजन, (यत्रो) जिस (तृतीये) तीसरे, अर्थात् जीव और प्रकृति से विलक्षण (धामन्

जगद्धारक जगदीश्वर में, (अध्यैरयन्त) सर्वत्र अपनी इच्छापूर्वक विचरते हैं।

["जिस शुद्धस्वरूप परमात्मा में, योगिराज विद्वान् लोग मुक्तिसुख को प्राप्त हो आनन्द करते हैं, उसी को सर्वज्ञ सर्वोत्पादक और सर्वदा सहायकार मानना चाहिये, अन्य को नहीं" (भावार्थ, म० दयानन्द)।]

३१६. परीत्यं भूतानि परीत्यं लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशंश्च।
उपस्थायं प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥३२।११॥

(भूतानि) पंचभूतों की (परीत्य) मनसा परिक्रमा अर्थात् आलोचना करके, (लोकान्) भूतोत्पन्न भौतिक तीनों लोकों की (परीत्य) मनसा परिक्रमा अर्थात् आलोचना करके, (सर्वाः) सब (प्रदिशः) आग्नेयादि उपदिशाओं (च) और (दिशः) पूर्वादि दिशाओं की (परीत्य) मनसा परिक्रमा अर्थात् आलोचना कर के, तथा (ऋतस्य) सत्यज्ञानरूप वेद के (प्रथमजाम्) श्रेष्ठ उत्पादक परमेश्वर का (उपस्थाय) उपस्थान अर्थात् उपासना करके, (आत्मना) योगी अपने शुद्ध आत्मस्वरूप से (आत्मानम्) परमात्मा को (अभि) सन्मुख कर (सं विवेश) उसी में सम्यक् प्रवेश करता है।

[अभिप्राय यह कि योगी पञ्च भूतों, लोकों, तथा उपदिशाओं और दिशाओं में व्याप्त परमात्मा को जानकर, और इसे ही एकमात्र प्रापणीय ध्येय जान कर, वेदों द्वारा इस के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान कर, वेद-प्रदाता परमेश्वर की उपासना में रत होकर, निज आत्मस्वरूप से परमेश्वर में प्रवेश पाता है। आत्मस्वरूप का अभिप्राय यह कि देह, इन्द्रियों, मन, बुद्धि से रहित होकर केवल आत्मा ही परमात्मा में प्रवेश पाता है। जीवात्मा की इस अवस्था को "कैवल्य" कहते हैं।]

३१७. परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत् ॥
३२।१२॥

(सद्यः) शीघ्र ही (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक की (परि इत्वा) मनसा परिक्रमा अर्थात् आलोचना करके, (लोकान्) लोक-परलोक तथा लोकव्यवहार की (परि) आलोचना करके अर्थात् इनका यथार्थरूप जानकर,

(दिशः परि स्वः परि) दिग्दिगन्तरों में फैले जगत् को, तथा सांसारिक सुखभोगों को असलीयत को जान कर, और (ऋतस्य) सत्य के (विततम्) विस्तृत (तन्तुम्) कारणरूप ब्रह्म को (विचृत्य) विशेषतः निज जीवन में बान्ध कर, योगी (तद्) उस ब्रह्म का (अपश्यत्) दर्शन करता है। (तद्-अभवत) तद्रूप[1] हो जाता है, अर्थात् तल्लीन हो जाता है, और (तत्) उस तल्लीनता की अवस्था में (आसीत्) विद्यमान रहता है। अथवा (तद् अभवत्[2]) उसे प्राप्त करता है—"भू प्राप्तौ"। (तत आसीत्) उस में उपविष्ट हो जाता है—"आस उपवेशने"। इन अर्थों में अभवत् और आसीत् वैदिक प्रयोग हैं।

[अभिप्राय यह है कि यह जानकर कि जगत् के पदार्थ तथा सांसारिक

---

१. यथा—"यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः"॥ (ऋ० म० ८। सू० ४४। मं० २३)। अर्थात् ध्यानप्रकर्ष में, हे ज्योतिर्मय! जब मैं तू—रूप हो जाऊं, या तू मैं—रूप हो जाय, तब आप के दिए आशीर्वाद इसी जीवन में सत्य हो जांय। ध्यान-प्रकर्ष में उपासक जब अपने-आप को भूल जाता है, केवल ध्येय-परमेश्वर में निष्ठित हो जाता है, तब परमेश्वरीय आशीर्वाद उपासक को प्राप्त हो जाते हैं। इस ध्येयनिष्ठता को ही समाधि कहते हैं। यथा—"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" (योग ३।३), अर्थात् वह ध्यान ही 'समाधि' कहलाता है, जब ध्यान में केवल ध्येय अर्थमात्र से भासता है, और ध्यान का स्वरूप शून्य-जैसा हो जाता है। ध्यान में ध्याता ध्यान और ध्येय तीनों की प्रतीति होती है। जब केवल ध्येय का ही स्वरूप भासित हो, और ध्याता तथा ध्यान के स्वरूप भासित न हों, तब वह ध्यान ही समाधि कही जाती है। सूत्र में "इव" शब्द है। इसके द्वारा निर्दिष्ट किया है कि समाधि में ध्याता और ध्यान वस्तुतःशून्य नहीं होते, अपितु शून्य-जैसे हो जाते हैं, अर्थात् केवलमात्र भासित नहीं हो रहे होते। यही तात्कालिक अवस्था "तद्रूपता" है।

२. अभवत् में "भू" धातु चुरादिगण की है। भट्टोजी दीक्षित लिखते हैं कि "भू प्राप्तावात्मनेपदी—भावयते, भवते। णिच् संयोगेनैवात्मनेपदमित्येके-भवति।" इस प्रकार अभवत् प्रयोग "भू प्राप्तौ" द्वारा भी उपपन्न हो जाता है। तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्=अथवा योगी उसे देखता है, उसे प्राप्त करता है, उसे वह प्राप्त तो था ही। परमेश्वर सर्वव्यापक है। अतः उसे देखना ही उसे प्राप्त करना है, उसे प्राप्त तो वह पूर्वतः ही किये हुए था। दर्शनाभाव में वह समझता था कि परमेश्वर को वह प्राप्त नहीं हुआ॥

सुखभोग अनित्य हैं, योगी मोक्षार्थ परमेश्वर के साक्षात्कार के लिये यत्नवान् हो जाता है। योगी इस ध्येय परमेश्वर को मानो बान्ध लेता, और कालान्तर में परमेश्वर का दर्शन पा लेता है। **तपद्रूता और तल्लीनता**= स्थिरध्यान में चित्त जब समाधि में ध्येयरूप हो जाता है, और ध्याता और ध्यान का उसे भान नहीं रहता, यही तपद्रूता और तल्लीनता है। तद्रूपता और तल्लीनता में ध्याता के स्वरूप का विनाश नहीं होता, अपितु उसे निज स्वरूप का भान नहीं रहता। व्युत्थितावस्था में निज स्वरूप का भान पुनः होने लगता है। इसी दृष्टि से सांख्यदर्शन में कहा है कि— "**समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता**", अर्थात् समाधि सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मरूपता हो जाती है। यह प्रचलित अद्वैतवाद या अहं ब्रह्मास्मिवाद नहीं है।]

—:०:—

पुनर्जन्म और कर्मव्यवस्था [४]

३१८. अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे।
गर्भे सन् जायसे पुनः ॥१२।३६॥

(अग्ने) अग्नि के सदृश शरीर और इन्द्रियों तथा मन में प्रकाश करनेवाले हे जीवात्मन्! मृत्यु के पश्चात् (अप्सु) अन्तरिक्षस्थ वायु में (तव) तेरी (सधिः) स्थिति होती है। (सः) वह तू फिर (ओषधीः) ओषधियों अर्थात् वृक्ष वनस्पति आदि स्थावर जगत् को प्राप्त होकर (अनुरुध्यसे) कर्मानुरूप उन में रुकता है। तदनन्तर (गर्भे) मातृगर्भ में (सन्) स्थित होकर (पुनः) फिर (जायसे) जन्म लेता है।

[**सधिः**[1]=**स+धा (धारणे)+किः। रुध्यसे=रुधिर् आवरणे। अप्सु= आपः अन्तरिक्षनाम** (निघं० १।३), मन्त्र पठित "अप्सु" में **आपः शब्द लक्षणया अन्तरिक्षस्थ वायुपरक है**। "जो जीव शरीर को छोड़ते हैं, वे वायु और ओषधि आदि पदार्थों में भ्रमण करते-करते गर्भाशय को प्राप्त होके, नियत समय पर शरीर धारण करके प्रकट होते हैं" (भावार्थ, म० दयानन्द)। इस भावार्थ में दर्शाया है कि शरीर छूटने के पश्चात् जीव पहिले अन्तरिक्ष-

---

१. यथा—**अन्तधिः, जलधिः आदि। अथवा सधिः=स+धि (धारणे) क्विप्।**

स्थ वायु में जाता है। इसलिये मन्त्रगत **अप्सु में 'आपः' का अर्थ अन्तरिक्ष-स्थ वायु दर्शाया है।**]

३१९. गर्भोऽअस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि ॥१२।३७॥

(अग्ने) हे जीवन में प्रकाश देनेवाले अग्निसदृश जीवात्मन्! तू (ओषधीनाम्) ओषधियों का (गर्भः) गर्भरूप (असि) होता है, (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों का (गर्भः) गर्भरूप होता है। (विश्वस्य) सभी (भूतस्य) प्राणियों का (गर्भः) गर्भरूप होता है, (अपाम्) जलों का (गर्भः) गर्भरूप (असि) होता है।

[अभिप्राय यह कि जीवात्मा कर्मानुसार समय-समय पर ओधिषयों-वनस्पतियों, सभी प्रकार के प्राणियों, तथा जलों के जलीय जन्तुओं में गर्भरूप में प्रविष्ट होकर नाना जन्म धारण करता रहता है।]

३२०. प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने।
सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान पुनरासदः ॥१२।३८॥

(अग्ने) हे प्रकाश से युक्त जीवात्मन्! (भस्मना) शरीर के भस्म हो जाने के पश्चात, (त्वम्) तू (पृथिवीम्) पृथिवी (च) और (अपः) जलों को (योनिम्) योनिरूप में (प्रसद्य) प्राप्त होकर, तथा (मातृभिः) माताओं के साथ (संसृज्य) संसर्ग अर्थात् सम्बन्ध पैदा करके अर्थात् उन के उदरों में निवास करके,(पुनः) फिर (ज्योतिष्मान्) इन्द्रियादि ज्योतियों से युक्त हुआ (आ सदः) उपस्थित होता है।

[**ज्योतिष्मान्=इन्द्रियां और मन ज्योतियां हैं।** यथा—"**ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**" (यजु० ३४।१)। अभिप्राय यह कि शरीर के भस्म हो जाने पर जीवात्मा, पृथिवी जल आदि पांच भूतों के साथ युक्त होता, और माताओं के शरीरों में गर्भाशय में पहुंच, फिर शरीर धारण कर विद्यमान होता है।]

३२१. पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने।
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याꣳशिवतमः ॥१२।३९॥

(अग्ने) हे जीवन में प्रकाश देनेवाले जीवात्मन्! तू (पुनः) बार-बार (अपः) जल (च) और (पृथिवीम्) अन्तरिक्ष को (सदनम्) आश्रयरूप

में (आ सद्य) प्राप्त करके, इसमें स्थित होकर, (अस्याम् अन्तः) इस पृथिवी के भीतर या इस माता के गर्भाशय में आकर, (मातुः) माता की (उपस्थे) गोद में (यथा) जैसे शिशु सोता है, वैसे तू माता की गोद में (शेषे) सोता है। वह तू (शिवतमः) माता-पिता के लिये अत्यन्त मंगलकारी हो।

[पृथिवीम्=पृथिवी अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३), इस द्वारा के मृत्यु के पश्चात् अन्तरिक्षस्थ वायु में कुछ काल तक जीवात्मा की स्थिति का निर्देश दिया है। अपः=यथा—"पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति" (छान्दोग्य उप० अ० ५, खण्ड ९)।]

३२२. असुर्या नाम ते लोकाऽ अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥४०।३॥

(अन्धेन) ज्ञानदृष्टि से विहीन करनेवाले (तमसा) तमोगुण से (आवृताः) ढके हुए (ते) वे (लोकाः) लोग हैं, जोकि (असुर्याः) निज प्राणपोषणमात्र में रत हैं, (नाम) ऐसी प्रसिद्धिवाले हैं। (च) तथा (ते) वे (जनाः) जन्मधारी मनुष्य (ये) जो (के) कोई कि (आत्महनः) आत्मा-परमात्मा से पराङ्मुख हैं, (प्रेत्य) मर कर (अपि) भी (तान्) उन असुरलोकों को ही (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं।

[तमोगुण द्वारा आवृत होने से सत्यज्ञानदृष्टि से रहित, तथा इसीलिये आत्मा और परमात्मा की सत्ता को न माननेवाले नास्तिक, निज प्राण पोषण में ही मस्त रहते हैं। वे लोग जीवितावस्था में तो असुर हैं हो, परन्तु निज आसुर-संस्कारों के कारण मृत्यु के पश्चात् भी वे आसुर-कुलों में ही जन्म लेते हैं। असुरः=असुः प्राणाः, तद्वान्, तद्वतः। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि "तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरसुरो बतेत्यसुराणां ह्येषोपनिषत् प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणेति संस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते॥ (अ० ८, खं० ८)। अर्थात् इसलिये भी आज इस लोक में अदानी अश्रद्धालु और यज्ञ न करनेवाले को कहते हैं कि यह सिर्फ असुर स्वभाववाला ही है, यह ही असुरों की उपनिषद् है। वे मृत के शरीर को अन्न वस्त्रों और आभूषणों द्वारा सुसज्जित करते हैं। इसके द्वारा ही वे उस परलोक पर विजय पालेंगे, ऐसा वे मानते हैं।]

श्री प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड कृत "यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा" ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ॥

—:०:—

रा० ब० चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थन्यास (करनाल)

द्वारा प्रकाशित कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

रा० ब० चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थन्यास (करनाल) आरम्भकाल से ही मूकभाव से वैदिक विद्वानों की, तथा अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन में यथाशक्ति पत्रं पुष्पं के रूप में सहायता करता आ रहा है। इस धर्मार्थन्यास ने कई ग्रन्थ स्वयं भी प्रकाशित किये हैं, जिनमें निम्नलिखित महत्त्व पूर्ण एवं प्रमुख हैं—

१. ऋग्वेदभाष्य—(संस्कृत-हिन्दी)—ऋषि दयानन्द सरस्वती विरचित। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियों, १०-११ प्रकार के परिशिष्टों वा सूचियों के सहित। संपादक—श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग ३५-००, द्वितीयभाग ३०-००, तृतीयभाग ३५-००।

२. उणादिकोष—ऋ० द० व्याख्या। ३०० पृष्ठ, सैंकड़ों टिप्पणियां तथा १२ परिशिष्टों वा विविध सूचियों के सहित। सम्पादक श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक। अजिल्द ७-००, सजिल्द १०-००।

३. अथर्ववेदभाष्य—अथर्ववेद के बहुत विवादास्पद काण्ड १८-१९, २० की श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय कृत महत्त्वपूर्ण व्याख्या। मूल्य १८-१९वां काण्ड अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००; बीसवां काण्ड सजिल्द १५-००।

४. यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञसमीक्षा—पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय कृत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य—सादा जिल्द १२-५०, बढ़िया जिल्द १५-००

5 Letters of Maharishi Dayanand Sarswati.
Rs. 6-00

6. Vedic Sanskrit, Mother of All languages By Swami Dharmanand Sarswati. Rs. 12-00 bound 15-00

7. The Vedas an Introduction By Dr. P. C. Sharma
Rs. 5-00

प्राप्ति-स्थान—

१—रा० ब० चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ न्यास, ५७ एल, माडलटाउन, करनाल (हरयाणा)।

२—रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)।

रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़

द्वारा प्रकाशित वा प्रसारित कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

१. सत्यार्थप्रकाश—ऋषि दयानन्द सरस्वती कृत। १२७५ पृष्ठ, ३२०० टिप्पणियों, १३ परिशिष्टों वा विविध सूचियों तथा प्रथम संस्करण सन् १८५७ के विशिष्ट उपयोगी अंशों सहित। सम्पा० युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य लागतमात्र-२४-००, राजसंस्करण ३०-००।

२. संस्कारविधि—ऋ० द० कृत। ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियों, १२ परिशिष्टों वा सूचियों सहित। सं० युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य लागतमात्र—१०-००, राज-संस्करण १२-००। सस्ता संस्करण ४-००।

३. दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह—ऋषि दयानन्द कृत १४ लघुग्रन्थों का अपूर्व संग्रह। ६०० पृष्ठ, १००० टिप्पणियों, १० परिशिष्टों वा सूचियों के सहित। मूल्य लागतमात्र २०-००।

४. माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ—शुद्ध संस्करण। मूल्य २०-००

५. वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा—युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा लिखित वेदविषयक १७ विशिष्ट निबन्धों का संग्रह। मूल्य ३०-००।

६. अष्टाध्यायी-भाष्य—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत। संस्कृत-हिन्दी में सरल सुबोध भाष्य। प्रथम भाग २४-००, द्वितीय भाग १६-००, तृतीय भाग

७. संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रथम भाग ७-००, द्वितीय भाग ८-००

८. ध्यानयोग-प्रकाश—ऋषि दयानन्द के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द कृत। मूल्य ८-००

९. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक कृत। प्रथम भाग २५; द्वितीय भाग २०-००; तृतीय भाग १५-००।

१०. मीमांसा-शाबर-भाष्य—युधिष्ठिर मीमांसक लिखित आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी-व्याख्या सहित। प्रथम भाग ३०-००; द्वितीय भाग २४-००। तृतीय भाग छप रहा है।

प्राप्ति-स्थान

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, जिला-सोनीपत(हरयाणा)

पिन० १३१०२१